शारदा-संस्कृत-ग्रन्थमालायाः षट्त्रिंशत्प्रसूनम्

पञ्चतन्त्रस्य

मित्र-सम्प्राप्तिप्रकरणम्

हिन्दी-टीकोपेतम्

सम्पादकः—
गौरीनाथपाठकः

मूल्यम्
द्वादशाणकमात्रम्

पण्डितप्रवरविष्णुशर्मप्रणीतम्

मित्रसम्प्राप्तितन्त्रम्

स्मार्तकर्मानुष्ठाननिष्ठ-कश्यपवंशावतंस-स्वधर्मधुरन्धर-पाठकोपाह्व
जयकृष्णशर्मतनुजनुषा शारदासंस्कृतविद्यालयीय
प्रधानाध्यापकेन गौरीनाथशर्मणा विरचितया
हिन्दीभाषया संवलितम्

तच्च

काशीस्थशारदाभवनात् समुल्लसितम्

काश्याममरवाणीयन्त्रालये तेनैव
मुद्रापयित्वा प्राकाश्यं
नीतम्

वै० २००८ मी०

मित्रसंप्राप्तिः ।

अथेदमारभ्यते मित्रसंप्राप्तिर्नाम द्वितीयं तन्त्रम् । यस्यायमादिमः श्लोकः—

असाधना अपि प्राज्ञा बुद्धिमन्तो बहुश्रुताः ।
साधयन्त्याशु कार्याणि काकाखुमृगकूर्मवत् ॥ १ ॥

इसके बाद इस मित्रसंप्रातिनामवाले द्वितीय तन्त्र को प्रारम्भ करते है । जिसका यह पहला श्लोक है—

साधन के न रहते हुये भी बहुश्रुत बुद्धिमान विद्वान अपने कार्य्य को कौवे मूसे मृग तथा कछुये की तरह शीघ्र सिद्ध कर लेते हैं ॥ १

तद्यथानुश्रूयते—अस्ति दाक्षिणात्ये जनपदे महिलारोप्यं नाम नगरम् । तस्य नातिदूरस्थो महोच्छ्रायवान् नानाविहङ्गोपभुक्तफलः कीटैरावृतकोटरश्छायाश्वासितपथिकजनसमूहो न्यग्रोधपादपो महान् ।

अथवा युक्तम्—

छायासुप्तमृगः शकुन्तनिवहैर्विष्वग्विलुप्तच्छदः
कीटैरावृतकोटरः कपिकुलैः स्कन्धे कृतप्रश्रयः ।
विश्रब्धं मधुपैर्निपीतकुसुमः श्लाघ्यः स एव द्रुमः
सर्वाङ्गैर्बहुसत्त्वसङ्गसुखदो भूभारभूतोऽपरः ॥ २ ॥

जैसा कि सुना जाता है; दक्षिण देश में "महिलारोप्य" नाम का एक नगर है । उसके निकट ही बहुत ऊंचा अनेक पक्षियों द्वारा खाये हुए फलवाला,

Funding: Tattva Heritage Foundation,Kolkata. Digitization: eGangotri.

कीड़ों से भरे हुए खोखले वाला, अपनी छाया से पथिकों को संतोष देनेवाला एक बरगदका पेड़ है। अथवा ठीक ही है—

वही वृक्ष प्रशंसनीय है जिसकी छाया में हरिण सोते हों, पत्तियाँ चिड़ियों से नष्ट भ्रष्ट हों, खोखले कीटों से व्याप्त हो, शाखाओं पर बन्दर रहते हो, जिसके पुष्परस को बिना डर के भ्रमर पीते हों और अपने सभी अवयवों से बहुत प्राणियों को सुख देने वाला हो। जो ऐसा नहीं है वह केवल वसुधरा का बोझ है ॥ २ ॥

तत्र च लघुपतनको नाम वायसः प्रतिवसति स्म। स कदाचित्प्राणयात्रार्थं पुरमुद्दिश्य प्रचलितो यावत्पश्यति, तावज्जालहस्तोऽतिकृष्णतनुः स्फुटितचरण ऊर्ध्वकेशो यमकिंकराकारो नरः सम्मुखो बभूव। अथ तं दृष्ट्वा शङ्कितमना व्यचिन्तयत्—यदयं दुरात्माद्य ममाश्रयवटपादपसंमुखोऽभ्येति। तन्न ज्ञायते किमद्य वटवासिनां विहङ्गमानां संक्षयो भविष्यति?। एवं बहुविधं विचिन्त्य तत्क्षणान्निवृत्य तमेव वटपादपं गत्वा सर्वान्विहङ्गमान्प्रोवाच—भोः, अयं दुरात्मा लुब्धको जालतण्डुलहस्तः समभ्येति। तत्सर्वथा तस्य न विश्वसनीयम्। एष जालं प्रसार्य तण्डुलान्प्रक्षेप्स्यति। ते तण्डुला भवद्भिः सर्वैरपि कालकूटसदृशा द्रष्टव्याः। एवं वदतस्तस्य स लुब्धकस्तत्र वटतल आगत्य जालं प्रसार्य सिन्दुवारसदृशांस्तण्डुलान्प्रक्षिप्य नातिदूरं गत्वा निभृतः स्थितः। अथ ये पक्षिणस्तत्र स्थितास्ते लघुपतनकवाक्यार्गलया निवारितास्तांस्तण्डुलान् हालाहलाङ्कुरानिव वीक्षमाणा निभृतास्तस्थुः। अत्रान्तरे चित्रग्रीवो नाम कपोतराजः सहस्रपरिवारः प्राणयात्रार्थं परिभ्रमंस्तांस्तण्डुलान्दूरतोऽपि पश्यंल्लघुपतनकेन निवार्यमाणोऽपि जिह्वालौल्याद्भक्षणार्थमपतत्। सपरिवारो निबद्धश्च। अथवा साध्विदमुच्यते—

जिह्वालौल्यप्रसक्तानां जलमध्यनिवासिनाम्।
अचिन्तितो वधोऽज्ञानां मीनानामिव जायते ॥ ३ ॥

अथवा दैवप्रतिकूलतया भव-
त्येवम्। न तस्य कोऽपि [illegible]।

वहाँ पर लघुपतनक नाम का एक कौआ रहता था। वह किसी समय प्राणयात्रा के लिये ज्योंही नगर की तरफ चला, त्योंही क्या देखता है कि हाथ में जाल लिये हुये खड़े केशवाला, स्खलितचरण यमदूत के समान अत्यन्त काले शरीरवाला कोई मनुष्य सामने वर्तमान है। तब उसे देख कर वह भय-भीत हो सोचने लगा कि यह दुष्ट आज मेरे आश्रय बरगद की तरफ आरहा है सो न जाने आज बरगद में रहने वाले पक्षियों का नाश हो जायगा या नहीं। उस प्रकार बहुत कुछ सोच कर लौटकर उसी बरगद के वृक्ष पर जाकर चिड़ियों से कहा, अहो, दुष्ट व्याध जाल और चावल के दानों को हाथ में लिये हुए आ रहा है। इस लिये कभी भी उसका विश्वास नहीं करना चाहिये। यह जाल फैला कर चावल बिखेरेगा। उन चावलों को आप लोग विष के समान समझें। इस प्रकार उसके कहते हुए वह व्याध उस बरगद के नीचे आकर और जाल फैलाकर सिन्दुवार की तरह चावलों को बिखेर कर निकट में ही छिप कर बैठ गया। तब जो पक्षी वहाँ रहते थे वे सब लघुपतनक के बातों की सत्यता से मना किये हुये उन चावलों को विष की तरह देखते हुये छिप कर बैठ गये। इसी समय चित्रग्रीव नाम का एक कबूतरों का राजा हजारों की संख्या में अपने परि-वार के साथ प्राणयात्रा के लिये घूमता हुआ चावलों को दूर से देखकर लघु-पतनक से मना किये जाने पर भी जीभ की लोलुपता से खाने के लिये बैठ गया। और सपरिवार उस जाल में बंध गया। अथवा यह ठीक ही कहा जाता है—

जिह्वा की लोलुपता से आसक्त मूर्खों का वध जल में निवास करने वाली मछलियों की तरह अतर्कित प्रकार से होता है ॥ ३ ॥

उक्तं च—पौलस्त्यः कथमन्यदारहरणे दोषं न विज्ञातवान्

रामेणापि कथं न हेमहरिणस्यासम्भवो लक्षितः।

अक्षैश्चापि युधिष्ठिरेण सहसा प्राप्तो ह्यनर्थः कथं

प्रत्यासन्नविपत्तिमूढमनसां प्रायो मतिः क्षीयते ॥ ४ ॥

और भी कहा है—

दूसरे की स्त्री का अपहरण करने में रावण ने दोष क्यों नहीं जाना ? रामचन्द्र को सोने के मृग का होना असम्भव क्यों नहीं मालूम पड़ा ? युधिष्ठिर ने जूये से सहसा अनर्थ को क्यों प्राप्त किया ? समीप आई हुई विपत्ति से मूढ़ हृदय वालों की बुद्धि प्रायः नष्ट हो जाती है ॥ ४ ॥

तथा च—कृतान्तपाशबद्धानां दैवोपहतचेतसाम् ।
बुद्धयः कुब्जगामिन्यो भवन्ति महतामपि ॥ ५ ॥

और भी—

काल के पाश से बंधे हुये और दैव से नष्ट हृदय वाले श्रेष्ठ पुरुषों की भी बुद्धि टेढ़ी चलने वाली हो जाती है ॥ ५ ॥

अत्रान्तरे लुब्धकस्तान्बद्धान्विज्ञाय प्रहृष्टमनाः प्रोद्यतयष्टिस्तद्वधार्थं प्रधावितः । चित्रग्रीवोऽप्यात्मानं सपरिवारं बद्धं मत्वा लुब्धकमायान्तं दृष्ट्वा तान्कपोतानूचे—अहो न भेतव्यम् ।

उक्तं च—व्यसनेष्वेव सर्वेषु यस्य बुद्धिर्न हीयते ।
स तेषां पारमभ्येति तत्प्रभावादसंशयम् ॥ ६ ॥

इसी समय व्याध उन्हें बंधा हुआ जानकर प्रसन्न मन हो लाठी ले कर उन्हें मारने के लिये दौड़ा । चित्रग्रीव भी सपरिवार अपने को बंधा हुआ जान कर और व्याध को आते हुये देख कर उन कबूतरों से बोला अहो डरना नहीं चाहिये । कहा भी है—

जिस की बुद्धि किसी प्रकार की विपत्ति में फसकर हतप्रभ नहीं होती हैं, वह ज्ञानी बुद्धि के प्रभावसे निश्चित उन दुःखों को पार कर जाता है ॥ ६ ॥

संपत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता ।
उदये सविता रक्तो रक्तश्चास्तमये तथा ॥ ७ ॥

जिस प्रकार उदय के समय तथा अस्त के समय सूर्य लाल ही रहता है, उसी तरह विपत्ति तथा सम्पत्ति दोनों में श्रेष्ठ पुरुषो की एक रूपता रहती है ॥ ७ ॥

तत्सर्वे वयं हेलयोड्डीय सपाशजाला अस्यादर्शनं गत्वा मुक्तिं प्राप्नुमः। नो चेद्भयविक्लवाः सन्तो हेलया समुत्पातं न करिष्यथ ततो मृत्युमवाप्स्यथ। उक्तं च—

तनवोऽप्यायता नित्यं तन्तवो बहुलाः समाः।
बहून्बहुत्वादायासान्सहन्तीत्युपमा सताम् ॥ ८ ॥

इसलिये हम लोग एकाएक जाल पाश सहित उड़ कर इसके आखों की ओट हो कर छुटकारा पासकते हैं। यदि भयभीत हो कर आप लोग सहसा नहीं उड़ चलेंगे तो निश्चय मृत्यु को प्राप्त करेंगे। कहा भी है—

महीन भी नित्य फैले हुये बहुत और बराबर २ तन्तु बहुत होनेसे बहुत से परिश्रमों को सह लेते हैं, यही सज्जनों की उपमा है ॥ ८ ॥

तथानुष्ठिते लुब्धको जालमादायाकाशे गच्छतां तेषां पृष्ठतो भूमिस्थोऽपि पर्यधावत्। तत ऊर्ध्वाननः श्लोकमेनमपठत्—

जालमादाय गच्छन्ति संहताः पक्षिणोऽप्यमी।
यावच्च विवदिष्यन्ति पतिष्यन्ति न संशयः ॥ ९ ॥

वैसा करने पर वह व्याध जाल को लेकर आकाश में उड़ते हुये उनके पीछे, भूमि पर रहते हुए भी दौड़ा और मुख को उपर कर यह श्लोक पढ़ने लगा—

यद्यपि ये पक्षी मिल कर जाल को लेकर जा रहे हैं परन्तु ये जब आपस में झगड़ा करेंगे तो अवश्य गिरेंगे, इसमें संदेह नहीं है ॥ ९ ॥

लघुपतनकोऽपि प्राणयात्राक्रियां त्यक्त्वा किमत्र भविष्यतीति कुतूहलात्तत्पृष्ठतोऽनुसरति। अथ दृष्टेरगोचरतां गतान् विज्ञाय लुब्धको निराशः श्लोकमपठन्निवृत्तश्च।

नहि भवति यन्न भाव्यं भवति च भाव्यं विनापि यत्नेन ।
करतलगतमपि नश्यति यस्य हि भवितव्यता नास्ति ॥ १० ॥

लघुपतनक भी इस के बाद प्राणयात्रा (जीवनोपाय की चिन्ता) को छोड़ कर यहाँ क्या होगा इस कौतूहल से उनके पीछे २ चला । और व्याध उन्हें दृष्टि से बाहर गये जान कर निराश हो श्लोक पढ़ता हुआ लौटा ।

जो नहीं होने वाला है वह नहीं हो, सकता और जो होने वाला है वह बिना प्रयत्न के ही होता है । जिसकी होनी नहीं, वह हाथ में रक्खी हुई वस्तु भी नष्ट हो जाती है । मतलब यह कि जो होनी रहती है वह हो कर ही रहती है, जो होनी नहीं है, हजार सिर पटक ने पर भी वह कभी हो नहीं पाती ॥ १० ॥

तथा च—पराङ्मुखे विधौ चेत्स्यात्कथंचिद् द्रविणोदयः ।
तत्सोऽन्यदपि संगृह्य याति शङ्खनिधिर्यथा ॥ ११ ॥

दैव के विपरीत रहते हुये यदि किसी तरह द्रव्य मिल जाय तो वह मिला हुआ द्रव्य शङ्खनिधि की तरह पहले के संग्रहीत धन को भी लेकर चला जाता है ॥ ११ ॥

तदास्तां तावद्विहङ्गामिषलोभो यावत्कुटुम्बवर्तनोपायभूतं जालमपि मे नष्टम् । चित्रग्रीवोऽपि लुब्धकमदर्शनीभूतं ज्ञात्वा तानुवाच—भोः, निवृत्तः स दुरात्मा लुब्धकः । तत्सर्वैरपि स्वस्थैर्गम्यतां महिलारोप्यस्य प्रागुत्तरदिग्भागे । तत्र मम सुहृद्धिरण्यको नाम मूषकः सर्वेषां पाशच्छेदं करिष्यति ।

उक्तं च—सर्वेषामेव मर्त्यानां व्यसने समुपस्थिते ।
वाङ्मात्रेणापि साहाय्यं मित्रादन्यो न संदधे ॥ १२ ॥

इस लिये पक्षियों के मांस का लोभ तो अलग रहे, परिवार की जीविका का साधन जो मेरा जाल था वह भी नष्ट हो गया । चित्रग्रीव भी व्याध को नहीं देख कर उन सबों से बोला, अहो वह दुष्ट व्याध लौट गया । इसलिये निर्भय होकर

"महिलारोप्य" के उत्तर दिशा में सब कोई चलिये। वहां मेरा मित्र हिरण्यक नाम चूहा सभी के पाश को काट डालेगा। कहा भी है—

प्राणिमात्र की सहायता विपत्ति के उपस्थित होने पर मित्र को छोड़ कर वचन मात्र से भी दूसरे नहीं करते ॥१२॥

एवं ते कपोताश्चित्रग्रीवेण संबोधिता महिलारोप्ये नगरे हिरण्यक-बिलदुर्गं प्रापुः । हिरण्यकोऽपि सहस्रबिलदुर्गं प्रविष्टः सन्नकुतोभयः सुखे-नास्ते । अथवा साध्विदमुच्यते—

अनागतं भयं दृष्ट्वा नीतिशास्त्रविशारदः ।
अवसन्मूषकस्तत्र कृत्वा शतमुखं बिलम् ॥ १३ ॥

इस प्रकार चित्रग्रीव से कहे गये वे कबूतर महिलारोप्य नगर में हिरण्यक के बिलरूपी किले पर गये। हिरण्यक भी सहस्रमुख वाले उस बिलदुर्ग में निर्भय होकर सुखपूर्वक रहता था। अथवा यह ठीक ही कहा जाता है—

नीतिशास्त्र में विशारद चूहा अनागत (आये हुये नहीं किन्तु आने वाले) भय की शंका से शतमुख बिल को बनाकर रहता था ॥१३॥

दंष्ट्राविरहितः सर्पो मदहीनो यथा गजः ।
सर्वेषां जायते वश्यो दुर्गहीनस्तथा नृपः ॥ १४ ॥

दंष्ट्रा (दाढ़, जिससे काटने पर आदमी जीता नहीं रहता) विहीन सर्प की तरह और मदहीन हाथी की तरह किला से हीन राजा सबके वश में हो जाता है॥१४॥

तथा च—न गजानां सहस्रेण न च लक्षेण वाजिनाम् ।
तत्कर्म सिध्यते राज्ञां दुर्गेणैकेन यद्रणे ॥ १५ ॥

और भी—

युद्ध में एक किले से राजा का जितना कार्य्य सिद्ध होता है, उतना हजार हाथियों से और लाख घोड़ों से भी सिद्ध नहीं होता ॥१५॥

शतमेकोऽपि संधत्ते प्राकारस्थो धनुर्धरः ।
तस्माद् दुर्गं प्रशंसन्ति नीतिशास्त्रविदो जनाः ॥ १६ ॥

किले में रहकर एक भी धनुर्धर सौ आदमियों के साथ युद्ध कर सकता है, इस लिये नितिज्ञ लोग किले की प्रशंसा करते हैं ॥१६॥

अथ चित्रग्रीवो बिलमासाद्य तारस्वरेण प्रोवाच—भो ! भो ! मित्र हिरण्यक ! सत्वरमागच्छ, महती मे व्यसनावस्था वर्तते । तच्छ्रुत्वा हिरण्यकोऽपि बिलदुर्गान्तर्गतः सन्प्रोवाच— भोः ! को भवान् ? किमर्थ मायातः ? किं कारणम् ? कीदृक्ते व्यसनावस्थानम् ? तत्कथ्यतामिति । तच्छ्रुत्वा चित्रग्रीव आह—भोः ! चित्रग्रीवो नाम कपोतराजोऽहं ते सुहृत् । तत्सत्वरमागच्छ, गुरुतरं प्रयोजनमस्ति । तदाकर्ण्य पुलकिततनुः प्रहृष्टात्मा स्थिरमनास्त्वरमाणो निष्क्रान्तः । अथवा साध्विदमुच्यते—

सुहृदः स्नेहसंपन्ना लोचनानन्ददायिनः ।
गृहे गृहवतां नित्यमागच्छन्ति महात्मनाम् ॥ १७ ॥

इसके बाद चित्रग्रीव बिलपर जाकर जोर से बोला—हे हे मित्र हिरण्यक ! जल्दी आओ । मैं बहुत दुःखावस्था में पड़ा हूँ । यह सुनकर हिरण्यक भी बिलदुर्ग के भीतर से ही बोला—अहो आप कौन हैं ? किस लिये आये हैं ? क्या कारण है ? कैसी तुम्हारी दुःखावस्था है ? उसे कहो । यह सुनकर चित्रग्रीव ने कहा, अहो ! मैं चित्रग्रीव नामका कबूतरों का राजा तुम्हारा मित्र हूँ । इसलिये जल्दी आओ । बड़ा भारी प्रयोजन है । यह सुनकर वह हर्ष से रोमाञ्चित शरीर, प्रसन्नमन, और स्थिर चित्त होकर निकल आया । अथवा यह ठीक ही कहा जाता है—

प्रेम से परिपूर्ण, नेत्रों को आनन्द देने वाले मित्र महात्माओं के घर में नित्य आया करते हैं ॥ १७ ॥

आदित्यस्योदयस्तात ताम्बूलं भारती कथा ।
इष्टा भार्या सुमित्रं च अपूर्वाणि दिने दिने ॥ १८ ॥

हे तात ! सूर्य्योदय, ताम्बूल, महाभारत की कथा, अनुकूल स्त्री, और अच्छा मित्र ये सब दिन २ अपूर्व होते हैं ॥१८॥

सुहृदो भवने यस्य समागच्छन्ति नित्यशः ।
चित्ते च तस्य सौख्यस्य न किंचित्प्रतिमं सुखम् ॥ १९ ॥

जिसके घर मित्र नित्य आते हैं उसके मन में उस सुख के सदृश दूसरा कोई सुख नहीं है ॥१६॥

अथ चित्रग्रीवं सपरिवारं पाशबद्धमालोक्य हिरण्यकः सविषादमिदमाह—भोः ! किमेतत् । स आह—भो जानन्नपि किं पृच्छसि । उक्तं च यतः—

यस्माच्च येन च यदा च यथा च यत्र
यावच्च यत्र च शुभाशुभमात्मकर्म ।
तस्माच्च तेन च तदा च तथा च तच्च
तावच्च तत्र च कृतान्तवशादुपैति ॥ २० ॥

तब चित्रग्रीव को सपरिवार पाश में बंधा हुआ देख कर हिरण्यक दुःख के साथ कहने लगा—अहो ! यह क्या है ! वह बोला कि अहो ! जानते हुये भी क्या पूछते हो ? क्यों कि कहा भी है—

जिससे, जिसने, जब, जैसा, जो, जितना, जहां शुभ या अशुभ कर्म किया है, उससे, उसने, उस समय, वैसा, वह, उतना, वहाँ काल के वश से पाया जाता है ॥२०॥

तत्प्राप्तं मयैतद्बन्धनं जिह्वालौल्यात् । सांप्रतं त्वं सत्वरं पाशविमोक्षं कुरु । तदाकर्ण्य हिरण्यकः प्राह—

अर्धार्धाद्योजनशतादामिषं वीक्षते खगः ।
सोऽपि पार्श्वस्थितं दैवाद्बन्धनं न च पश्यति ॥ २१ ॥

सो मैंने यह बन्धन जिह्वा की लोलुपता से पाया है । इस समय तुम जल्दी पाश से छुड़ाओ । यह सुनकर हिरण्यक ने कहा—

सो योजन अर्थात् पच्चीस कोस दूर से जो पक्षी मांस को देख लेता है वह समीप ही में वर्तमान बन्धन को भाग्य वश नहीं देखता है ॥२१॥

तथा च—रविनिशाकरयोर्ग्रहपीडनं
गजभुजङ्गविहङ्गमबन्धनम् ।
मतिमतां च निरीक्ष्य दरिद्रतां
विधिरहो बलवानिति मे मतिः ॥ २२ ॥

और भी—

सूर्य्य और चन्द्रमा का ग्रहों (राहु केतु) से कष्ट पाना, हाथी, सर्प और पक्षियों का बंधा जाना और बुद्धिमानों की दरिद्रता को देख कर "भाग्य ही बलवान है" ऐसी हमारी मति होती है ॥२२॥

तथा च—व्योमैकान्तविहारिणोऽपि विहगाः संप्राप्नुवन्त्यापदं
बध्यन्ते निपुणैरगाधसलिलान्मीनाः समुद्रादपि ।
दुर्नीतं किमिहास्ति किञ्च सुकृतं कः स्थानलाभे गुणः
कालः सर्वजनान्प्रसारितकरो गृह्णाति दूरादपि ॥ २३ ॥

और भी—

आकाश में विहार करने वाले पक्षी आपत्ति में पड़ जाते हैं। कुशल पुरुषों द्वारा अगाध जल वाले समुद्र से भी मत्स्य पकड़ लिये जाते हैं। इस संसार में दुर्नीत क्या है? और पुण्य क्या है? कोई अच्छा स्थान मिलने में क्या गुण है? क्यों कि काल हाथ फैला कर सभी प्राणियों को दूर से पकड़ लिया करता है ॥२३॥

एवमुक्त्वा चित्रग्रीवस्य पाशं छेत्तुमुद्यतं स तमाह—भद्र, मा मैवं कुरु। प्रथमं मम भृत्यानां पाशच्छेदं कुरु। तदनु ममापि च। तच्छ्रुत्वा कुपितो हिरण्यकः प्राह—भोः, न युक्तमुक्तं भवता। यतः स्वामिनोऽनन्तरं भृत्याः। स आह—भद्र मा मैवं वद। मदाश्रयाः सर्व एते वराकाः। अपरं स्वकुटुम्बं परित्यज्य समागताः। तत्कथमेतावन्मात्रमपि सम्मानं न करोमि।

उक्तं च—यः सम्मानं सदा धत्ते भृत्यानां क्षितिपोऽधिकम् ।
विक्ताभावेऽपि तं दृष्ट्वा ते त्यजन्ति न कर्हिचित् ॥ २४ ॥

इस प्रकार कह कर जब वह चित्रग्रीव का पाश काटने के लिये तैयार हुआ तब उससे चित्रग्रीव ने कहा—हे भद्र ! ऐसा मत करो । पहले मेरे सेवकों के पाश काटो उसके पीछे मेरा भी । यह सुनकर हिरण्यक क्रुद्ध होकर बोला—अहो ! आपने ठीक नहीं कहा, क्यों कि स्वामी के बाद सेवक होते हैं । वह बोला हे भद्र ! ऐसा मत कहो । ये बेचारे मेरे आश्रित हैं और गरीब हैं, अपने परिवार को छोड़ कर आये हैं तो क्या इतना भी समान मैं न करू ? कहा भी है—

राजा जिन सेवकों का सदा अधिक सम्मान किया करता है, वे उसे धन हीनावस्था में भी नहीं छोड़ते ॥२४॥

तथा च—विश्वासः संपदां मूलं तेन यूथपतिर्गजः ।
सिंहो मृगाधिपत्येऽपि न मृगैः परिवार्यते ॥ २५ ॥

और भी—

यह हमारा राजा और रक्षक है इस प्रकार का विश्वास ही संपत्ति की जड़ है, इसी से यूथपति गज को अपना रक्षक समझ कर सब गज सदा घेरे रहते हैं, पर मृगाधिप (सिंह) मृगों का राजा होते हुए भी उस पर मृगों का विश्वास न होने के कारण वह मृगों से परिवारित नहीं होता ॥२५॥

अपरं मम कदाचित्पाशच्छेदं कुर्वतस्ते दन्तभङ्गो भवति । अथवा दुरात्मा लुब्धकः समभ्येति । तन्नूनं मम नरकपात एव ।

उक्तं च—सदाचारेषु भृत्येषु संसीदत्सु च यः प्रभुः ।
सुखी स्यान्नरकं याति परत्रेह च सीदति ॥ २६ ॥

और भी मेरे पाश को काटते हुये यदि तुम्हारे दांत टूट जाय अथवा वह दुष्ट व्याध ही आ जाय तो निश्चय मेरा नरक पात होगा । कहा भी है—

सदाचारी भृत्य को कष्ट में देख कर जो स्वामी सुखी होता है वह नरक में जाता और इस लोक में तथा उस लोक में कष्ट पाता है ॥२६॥

तच्छ्रुत्वा प्रहृष्टो हिरण्यकः प्राह—भोः, वेद्म्यहं राजधर्मम् । परं

मया तव परीक्षा कृता । तत्सर्वेषां पूर्वं पाशच्छेदं करिष्यामि । भवानप्य-नेन विधिना बहुकपोतपरिवारो भविष्यति ।

उक्तं च—

कारुण्यं संविभागश्च यस्य भृत्येषु सर्वदा ।
सम्भवेत्स महीपालस्त्रैलोक्यस्यापि रक्षणे ॥ २७ ॥

यह सुनकर प्रसन्न हिरण्यक ने कहा—हे मित्र ! मैं राजधर्म जानता हूँ परन्तु मैंने तुम्हारी परीक्षा की है । इसलिये पहले सब के पाश को काटूंगा । आप भी इस तरह बहुत कपोत परिवार वाले हो जांयगे । कहा भी है—

जिस राजा की सेवकों के प्रति सदा दया रहा करती है और गुण दोषों का विवेचन कर सदा सेवकों को धन दिया करता है वह राजा त्रैलोक्य की भी रक्षा करने में समर्थ हो सकता है ॥२७॥

एवमुक्त्वा सर्वेषां पाशच्छेदं कृत्वा हिरण्यकश्चित्रग्रीवमाह—मित्र, गम्यतामधुना स्वाश्रयं प्रति । भूयोऽपि व्यसने प्राप्ते समागन्तव्यमिति । तान्संप्रेष्य पुनरपि दुर्गं प्रविष्टः । चित्रग्रीवोऽपि सपरिवारः स्वाश्रयमगमत् । अथवा साध्विदमुच्यते—

मित्रवान्साधयत्यर्थान्दुःसाध्यानपि वै यतः ।
तस्मान्मित्राणि कुर्वीत समान्येव चात्मनः ॥ २८ ॥

यह कह कर सब के पाश को काट कर हिरण्यक ने चित्रग्रीव से कहा—हे मित्र, अब तुम अपने स्थान पर जाओ । फिर भी यदि कष्ट प्राप्त हो तो आना । इस प्रकार उन्हें भेजकर फिर किले में चला गया । चित्रग्रीव भी सपरिवार अपने स्थान पर चला गया । अथवा यह ठीक ही कहा जाता है—

मित्रवाला दुःसाध्य कार्य्यों को भी सिद्ध कर लेता है इस लिये अपने समान ही मित्र बनाने चाहिये ॥२८॥

लघुपतनकोऽपि वायसः सर्वं तं चित्रग्रीवबन्धमोक्षमवलोक्य विस्मि-

समना व्यचिन्यत्—अहो, बुद्धिरस्य हिरण्यकस्य शक्तिश्च दुर्गसामग्री च । तदीदृगेव विधिर्विहङ्गानां बन्धनमोक्षात्मकः । अहं च न कस्यचिद्विश्वसिमि चलप्रकृतिश्च । तथाप्येनं मित्रं करोमि । उक्तं च—

अपि संपूर्णतायुक्तैः कर्तव्याः सुहृदो बुधैः ।
नदीशः परिपूर्णोऽपि चन्द्रोदयमपेक्षते ॥ २९ ॥

लघुपतनक कौआ भी सभी चित्रग्रीव इत्यादि को बन्धन से छुटा हुआ देख कर सोचने लगा ! अहो, इस हिरण्यक की बड़ी विलक्षण बुद्धि है, शक्ति तथा किले की भी अपूर्व सामग्री है । और ऐसा ही पक्षियों के बन्धन के मोक्ष का प्रकार है । मैं तो किसी का विश्वास नहीं करता हूँ तथा चञ्चल प्रकृति वाला हूँ । तो भी इसको मित्र बनाऊंगा । कहा भी है—

सर्व साधन सम्पन्न होने पर भी विद्वान को मित्र बनाने चाहिये । परिपूर्ण भी समुद्र चन्द्रोदय की अपेक्षा करता है ॥२६॥

एवं संप्रधार्य पादपादवतीर्य बिलद्वारमाश्रित्य चित्रग्रीववच्छब्देन हिरण्यकं समाहूतवान् । एह्येहि भो हिरण्यक ! एहि । तच्छब्दं श्रुत्वा हिरण्यकोऽभ्यचिन्तयत्—किमन्योऽपि कश्चित्कपोतो बन्धनशेषस्तिष्ठति येन मां व्याहरति । आह च—भोः, को भवान् । स आह—अहं लघुपतनको नाम वायसः । तच्छ्रुत्वा विशेषादन्तर्लीनो हिरण्यक आह—भोः, द्रुतं गम्यतामस्मात्स्थानात् । वायस आह—अहं तव पार्श्वे गुरुकार्येण समागतः । तत्किं न क्रियते मया सह दर्शनम् । हिरण्यक आह—न मेऽस्ति त्वया सह संगमेन प्रयोजनमिति । स आह—भोः, चित्रग्रीवस्य मया तव सकाशात्पाशमोक्षणं दृष्टम् । तेन मम महती प्रीतिः संजाता । तत्कदाचिन्ममापि बन्धने जाते तव पार्श्वान्मुक्तिर्भविष्यति । तत्क्रियतां मया सह मैत्री । हिरण्यक आह—अहो, त्वं भोक्ता । अहं ते भोज्यभूतः । तत्का त्वया सह मम मैत्री । तद्गम्यताम्, मैत्री विरोधभावात्कथम् ? उक्तं च—

ययोरेव समं वित्तं ययोरेव समं कुलम् ।
तयोर्मैत्री विवाहश्च न तु पुष्टविपुष्टयोः ॥ ३० ॥

ऐसा निश्चय कर वृक्ष से उतर बिल के द्वार पर जाकर चित्रग्रीव के सदृश शब्दों से हिरण्यक को बुलाया—हे हिरण्यक, यहाँ आओ, यहाँ आओ। उसके शब्दों को सुनकर हिरण्यक ने सोचा—क्या और कोई बन्धन युक्त ही रह गया, जिससे मुझको बुलाता है ? और बोला—अहो, आप कौन हैं ? वह बोला—मैं लघुपतनक नाम का कौवा हूँ। यह सुन कर और भी भीतर जाकर हिरण्यक ने कहा—अहो, इस स्थान से जल्दी चले जाओ। कौवे ने कहा—मैं तुम्हारे पास बड़े भारी काम के लिये आया हूं। इस लिये मेरे साथ देखा देखी क्यों नहीं करते ? हिरण्यक ने कहा—तुम्हारे साथ मिलने में मेरा कोई प्रयोजन नहीं है। वह बोला—अहो, मैंने तुमसे चित्रग्रीव के बन्धन का मोक्ष देखा है, इस लिये मुझे तुम्हारे ऊपर बड़ी प्रीति हो गई है। कदाचित् मेरा बन्धन हो गया तो तुम्हारे द्वारा मेरी भी मुक्ति होगी। इस लिये मेरे साथ मित्रता कर लो। हिरण्यक ने कहा—अहो, तुम खाने वाले हो और मैं तुम्हारा भक्ष्य हूँ इस लिये तुम्हारे साथ मेरी मित्रता कैसी ? सो जाओ। विरोध भाव में मित्रता किस तरह हो सकती है ? कहाँ भी है—

जिनका कुल तथा धन सम हैं उन्हीं में मैत्री तथा विवाह हो सकता है, कम अधिक में नहीं ॥३०॥

तथा च—

यो मित्रं कुरुते मूढ आत्मनोऽसदृशं कुधीः ।
हीनं वाप्यधिकं वापि हास्यतां यात्यसौ जनः ॥ ३१ ॥

और भी—

जो मूर्ख अपने असमान मनुष्य से मित्रता करता है, चाहे वह उससे छोटा हो या बड़ा वह हँसी का पात्र होता है ॥३१॥

द्गम्यतामिति। वायस आह—भो हिरण्यक, एषोऽहं तव दुर्ग-

द्वार उपविष्टः । यदि त्वं मैत्रीं न करोषि ततोऽहं प्राणमोक्षणं तवाग्रे करिष्यामि । अथवा प्रायोपवेशनं मे स्यादिति । हिरण्यक आह—भोः, त्वया वैरिणा सह कथं मैत्रीं करोमि । उक्तं च—

वैरिणा न हि संदध्यात्सुश्लिष्टेनापि संधिना ।
सुतप्तमपि पानीयं शमयत्येव पावकम् ॥ ३२ ॥ 32

इस लिये जाइये । कौवा बोला—हे हिरण्यक, यह मैं तुम्हारे किले के द्वार पर बैठता हूँ, यदि तुम मित्रता न करोगे तो मैं तुम्हारे सामने प्राण त्याग दूंगा । अथवा उपवास करूंगा । हिरण्यक ने कहा—अहो ! तुझ शत्रु के साथ मित्रता किस तरह करूं । कहा भी है—

शत्रु के साथ बड़ी से बड़ी शर्तों पर भी संधि नहीं करनी चाहिये । क्यों कि उष्ण जल भी अग्नि को शान्त ही करता है ॥३२॥

वायस आह—भोः, त्वया दर्शनमपि नास्ति । कुतो वैरम् । तत्किमनुचितं वदसि । हिरण्यक आह—द्विविधं वैरं भवति । सहजं कृत्रिमं च । तत्सहजवैरी त्वमस्माकम् । उक्तं च—

कृत्रिमं नाशमभ्येति वैरं द्राक् कृत्रिमैर्गुणैः ।
प्राणदानं विना वैरं सहजं याति न क्षयम् ॥ ३३ ॥ 33

कौवे ने कहा—अहो, तुम्हारा दर्शन भी नहीं हुआ । वैर कहां ? सो क्या अनुचित कहते हो । हिरण्यक ने कहा—दो प्रकार का वैर होता है । स्वाभाविक और कृत्रिम । सो तुम हमारे स्वाभाविक वैरी हो । कहा भी है—

कृत्रिम गुणों से कृत्रिम वैर नष्ट हो जाता है । परन्तु स्वाभाविक बिना प्राण गये नष्ट नहीं होता ॥३३॥

वायस आह—भोः, द्विविधस्य वैरस्य लक्षणं श्रोतुमिच्छामि । तत्कथ्यताम् । हिरण्यक आह—भोः, कारणेन निर्वृत्तं कृत्रिमम् । तत्तदर्होपकारकरणाद् गच्छति । स्वाभाविकं पुनः कथमपि न गच्छति । तद्यथा,

नकुलसर्पाणाम्, शष्पभुङ्नखायुधानाम्, जलवह्न्योः, देवदैत्यानाम्, सारमेयमार्जाराणाम, ईश्वरदरिद्राणाम्, सपत्नीनाम्, सिंहगजानाम्, लुब्धकहरिणानाम्, श्रोत्रियभ्रष्टक्रियाणाम्, मूर्खपण्डितानाम्, पतिव्रताकुलटानाम्, सज्जनदुर्जनानाम्, न कश्चित्केनापि व्यापादितः तथापि प्राणान्सन्तापयन्ति। वायस आह—भोः, अकारणमेतत्। श्रूयतां मे वचनम।

कारणान्मित्रतां याति कारणादेति शत्रुताम्।
तस्मान्मित्रत्वमेवात्र योज्यं वैरं न धीमता ॥ ३४ ॥ 34

कौवे ने कहा—अहो, दो प्रकार के वैर का लक्षण सुनना चाहता हूँ, सो कहिये। हिरण्यक ने कहा कि जो किसी कारण से उत्पन्न हो उसे कृत्रिम कहते हैं, वह उसके योग्य उपकार करने से नष्ट हो जाता है परन्तु स्वाभाविक कभी भी नष्ट नहीं होता, जैसे—नेवले तथा सर्पों का। तृणभोजियों तथा नखायुधों का, जल और अग्नि का, देवों तथा दैत्यों का, कुत्ते बिल्ली का, धनी दरिद्र का, सपत्नियों का, सिंह और हाथी का, व्याध हरिण का, श्रोतिय तथा भ्रष्टाचार वालों का, मूर्ख और पंडितों का, पतिव्रता तथा व्यभिचारिणी का, सज्जनों और दुर्जनों का। इन स्वभाविक वैरियों में यद्यपि प्रत्यक्ष किसी ने किसी का कुछ अपकार नहीं किया है, तो भी ये परस्पर एक दूसरे को सन्ताप दिया करते हैं। कौवे ने कहा—अहो, यह सब अकारण है। मेरे वचन को सुनिये—

कारण से ही मित्रता तथा शत्रुता होती है इस लिये बुद्धिमान को चाहिये कि वह मित्रता ही करे शत्रुता नहीं ॥३४॥

तस्मात्कुरु मया सह समागमं मित्रधर्मार्थम्। हिरण्यक आह—भोः, श्रूयतां नीतिसर्वस्वम्—

सकृद् दुष्टमपीष्टं यः पुनः सन्धातुमिच्छति।
स मृत्युमुपगृह्णाति गर्भमश्वतरी यथा ॥ ३५ ॥ 35

इस लिये मित्रधर्म के निवाहने के लिये मेरे साथ मिलिए। हिरण्यक ने कहा—अहे, मैं नीति का सर्वस्व कहता हूँ, सुनिये—

एक बार भी दुष्टता किए हुए अपने प्रिय के साथ जो संधि करने की इच्छा करता है वह वैसे ही मृत्यु को प्राप्त करता है जैसे खचरी गर्भ को ॥३५॥

अथवा गुणवानहम्, न मे कश्चिद्वैरयातनां करिष्यति, एतदपि न संभाव्यम् । उक्तं च—

सिंहो व्याकरणस्य कर्तुरहरत्प्राणान्प्रियान्पाणिने-
मींमांसाकृतमुन्ममाथ सहसा हस्ती मुनिं जैमिनिम् ।
छन्दोज्ञाननिधिं जघान मकरो वेलातटे पिङ्गल-
मज्ञानावृतचेतसामतिरुषां कोऽर्थस्तिरश्चां गुणैः ॥ ३६ ॥ 36

अथवा मैं गुणवान हूं । मुझको कोई वैर से सतायेगा नहीं, यह भी सम्भव नहीं । कहा भी है—

व्याकरणशास्त्र के रचयिता पाणिनि मुनि को सिंह ने मार डाला । मीमांसा के बनाने वाले जैमिनि मुनि को हाथी ने नष्ट कर दिया । छन्द के जानने वाले पिङ्गलाचार्य्य को समुद्र के किनारे घड़ियाल ने मार डाला । अत्यन्त क्रोधी तथा अज्ञानयुक्त चित्त वाले प्राणी को गुण से क्या प्रयोजन ॥३६॥

वायस आह—'अस्त्येतत् । तथापि श्रूयताम्—

उपकाराच्च लोकानां निमित्तान्मृगपक्षिणाम् ।
भयाल्लोभाच्च मूर्खाणां मैत्री स्याद्दर्शनात्सताम् ॥ ३७ ॥ 37

कौवे ने कहा—यह ठीक है, परन्तु सुनिये—

उपकार से साधारण मनुष्यों की, निमित्त से पशु पक्षियों की, भय तथा लोभ से मूर्खों की एवं दर्शन से सज्जनों की मित्रता होती है ॥३७॥

53 मृद्घट इव सुखभेद्यो दुःसंधानश्च दुर्जनो भवति । (1951)
सुजनस्तु कनकघट इव दुर्भेदः सुकरसंधिश्च ॥ ३८॥ 38

दुर्जन मिट्टी के घड़े के समान जल्दी फूट जाने वाला तथा कठिनता से जुड़ने वाला होता है और सज्जन सोने के घड़े के समान कठिनता से फूटने वाला तथा सरलता से जुड़नें वाला होता है ॥३८॥

39 (1959) इक्षोरग्रात्क्रमशः पर्वणि पर्वणि यथा रसविशेषः ।
तद्वत्सज्जनमैत्री विपरीतानां तु विपरीता ॥ ३९ ॥ 39

जिस प्रकार ऊख के उपरी हिस्से से लेकर क्रमशः गांठ २ में विशेष रस मिलता रहता है, उसी तरह सज्जनों की मित्रता है। और दुर्जनों की इससे उलटी है ॥३९॥

तथा च—आरम्भगुर्वी क्षयिणी क्रमेण
लघ्वी पुरा वृद्धिमती च पश्चात् ।
दिनस्य पूर्वार्धपरार्धभिन्ना
छायेव मैत्री खलसज्जनानाम् ॥ ४० ॥ 40

और भी—सज्जनों की मित्रता दिन के पिछले हिस्से की छाया की तरह पहले छोटी और पीछे बड़ी होती है और दुर्जनों की मित्रता पहले हिस्से की छाया की तरह आरम्भ में बड़ी और पीछे विनष्टप्राय होती है ॥४०॥

तत्साधुरहम्—अपरं त्वां शपथादिभिर्निर्भयं करिष्यामि । स आह—'न मेऽस्ति ते शपथैः प्रत्ययः । उक्तं च—

शपथैः संधितस्यापि न विश्वासं व्रजेद्रिपोः ।
श्रूयते शपथं कृत्वा वृत्रः शक्रेण सूदितः ॥ ४१ ॥ 41

इसलिए हम सज्जन हैं, और भी शपथ आदि से तुम्हें निर्भय करते हैं। उसने कहा कि शपथ से हमको तुम्हारा विश्वास नहीं है। कहा भी है—

शपथ से संधि हो जाने पर भी शत्रु का विश्वास न करे। यह सुना जाता है कि शपथ कर इन्द्र ने वृत्रासुर को मार डाला ॥४१॥

न विश्वासं विना शत्रुर्देवानामपि सिद्ध्यति ।
विश्वासात्त्रिदशेन्द्रेण दितेर्गर्भो विदारितः ॥ ४२ ॥ 42

विश्वास के विना देवताओं के भी शत्रु उनके वश नहीं होते। विश्वास से ही इन्द्र ने दिति का गर्भ विदीर्ण कर डाला ॥४२॥

अन्यच्च—बृहस्पतेरपि प्राज्ञस्तस्मान्नैवात्र विश्वसेत् ।
य इच्छेदात्मनो वृद्धिमायुष्यं च सुखानि च ॥ ४३ ॥

और भी—यदि बुद्धिमान् अपनी आयु, वृद्धि, सुख को चाहे तो बृहस्पति के ऊपरभी विश्वास न करे ॥४३॥

तथा च—सुसूक्ष्मेणापि रन्ध्रेण प्रविश्याभ्यन्तरं रिपुः ।
नाशयेच्च शनैः पश्चात्प्लवं सलिलपूरवत् ॥ ४४ ॥

और भी—शत्रु, छोटे से भी छिद्र से भीतर प्रवेश कर धीरे २ शत्रु को नष्ट करे। जैसे—लकड़ी की छोटी नौका में उसके छिद्र मार्ग द्वारा घुसा हुआ जल ॥४४॥

न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्तेऽपि न विश्वसेत् ।
विश्वासाद्भयमुत्पन्नं मूलान्यपि निकृन्तति ॥ ४५ ॥

अविश्वस्त में विश्वास नहीं करना चाहिये और विश्वस्त में भी विश्वास नहीं करना चाहिये विश्वास से उत्पन्न भय जड़ को भी काट डालता है ॥४५॥

न बध्यते ह्यविश्वस्तो दुर्बलोऽपि मदोत्कटैः ।
विश्वस्ताश्चाशु बध्यन्ते बलवन्तोऽपि दुर्बलैः ॥ ४६ ॥

विश्वास न करने वाला दुर्बल भी बड़े २ बलवानों से बांधा नहीं जाता और विश्वास करने वाला बलवान भी दुर्बलों से शीघ्र बंध जाता है ॥४६॥

सुकृत्यं विष्णुगुप्तस्य मित्राप्तिर्भार्गवस्य च ।
बृहस्पतेरविश्वासो नीतिसंधिस्त्रिधा स्थितः ॥ ४७ ॥

चाणक्य के मत में नीति से कार्य करना, शुक्र के मत में मित्रसंग्रह करना और बृहस्पति के मत में किसी का विश्वास न करना यही तीन प्रकार की नीतियाँ कही गई हैं ॥४७॥

तथा च—महताप्यर्थसारेण यो विश्वसिति शत्रुषु ।
भार्यासु सुविरक्तासु तदन्तं तस्य जीवितम् ॥ ४८ ॥

और भी—बहुत अधिक धन के लाभ से जो शत्रुओं पर विश्वास करता है तथा विरक्त स्त्री में विश्वास करता है उसके जीवन का अन्त शत्रुपर किया हुआ विश्वास और उसकी विरक्त स्त्री ही है ॥४८॥

तच्छ्रुत्वा लघुपतनकोऽपि निरुत्तरश्चिन्तयामास—'अहो, बुद्धि-प्रागल्भ्यमस्य नीतिविषये। अथवात एवास्योपरि मैत्रीपक्षपातः' स आह—'भो हिरण्यक,

सतां साप्तपदं मैत्रमित्याहुर्विबुधा जनाः।
तस्मात्त्वं मित्रतां प्राप्तो वचनं मम तच्छृणु ॥ ४९ ॥ ५१

यह सुनकर लघुपतनक भी निरुत्तर हो सोचने लगा—अहो! नीति शास्त्र में इसकी बुद्धि बड़ी प्रवीण है। अथवा इसीलिये तो मेरा इसके ऊपर मित्रता का पक्षपात है। तब वह स्पष्ट बोला—हे हिरण्यक!

पण्डित लोग सज्जनों की साप्तपद (सातपैर साथ चलने से होने वाली) मैत्री कहते हैं। इसलिये तुम हमारे मित्र हुए, अब हमारी बात सुनो ॥४६॥

दुर्गस्थेनापि त्वया मया सह नित्यमेवालापो गुणदोषसुभाषितगोष्ठी-कथाः सर्वदा कर्त्तव्याः, यद्येवं न विश्वसिषि।' तच्छ्रुत्वा हिरण्यकोऽपि व्यचिन्तयत्—'विदग्धवचनोऽयं दृश्यते लघुपतनकः सत्यवाक्यश्च, तद्युक्तमनेन मैत्रीकरणम्। परं कदाचिन्मम दुर्गे चरणपातोऽपि न कार्यः। उक्तञ्च—

भीतभीतः पुरा शत्रुर्मन्दं मन्दं विसर्पति।
भूमौ प्रहेलया पश्चाज्जारहस्तोऽङ्गनास्विव' ॥ ५० ॥ ५०

यदि इस तरह विश्वास नहीं करते हो, तो भी किले में रहते हुए भी तुमको मेरे साथ रोज २ वार्तालाप, गुण दोष वाली चर्चा करनी चाहिये। यह सुनकर हिरण्यक ने सोचा—यह लघुपतनक विद्वान् की तरह बात करने वाला दिखाई देता है और सत्य वक्ता है इसलिये इसके साथ मित्रता करना ठीक है। परन्तु मेरे किले में इसने कभी पैर भी नहीं रखना चाहिये। कहा भी है—

जिस प्रकार जारपति का हाथ स्त्रियों के अंगों के ऊपर पहले धीरे २ फिर प्रेम हो जाने पर इच्छानुसार चलता है उसी तरह शत्रु भी भयभीत होकर ही नगर में धीरे २ प्रवेश करता है अनन्तर पूर्ण नगर को स्वाधीन कर लेता है ॥५०॥

तच्छ्रुत्वा वायस आह—'भद्र, एवं भवतु ।' ततः प्रभृति द्वौ तावपि सुभाषितगोष्ठीसुखमनुभवन्तौ तिष्ठतः । परस्परं कृतोपकारौ कालं नयतः । लघुपतनकोऽपि मांसशकलानि मेध्यानि बलिशेषाण्यन्यानि वात्सल्या-हृतानि पक्वान्नविशेषाणि हिरण्यकार्थमानयति ।

हिरण्यकोऽपि तण्डुलानन्यांश्च भक्ष्यविशेषांल्लघुपतनकार्थं रात्रा-वाहृत्य तत्कालायातस्यार्पयति । अथवा युज्यते द्वयोरप्येतत् ।

उक्तञ्च—ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति पृच्छति ।

भुङ्क्ते भोजयते चैव षड्विधं प्रीतिलक्षणम् ॥ ५१ ॥ 51

यह सुनकर कौवे ने कहा—हे भद्र । ऐसा ही हो । तब से लेकर वे दोनों सुभाषित चर्चा करते हुए गोष्ठी सुखका अनुभव करने लगे । और एक दूसरे का उपकार करते हुए समय विताने लगे । लघुपतनक भी मांस के टुकड़े, पवित्र हविष तथा प्रेम से और भी बहुत से पक्वान्नों को हिरण्यक के लिये लाता था हिरण्यक भी चावल तथा और भक्ष्य पदार्थों को लाकर रात को उसके आने पर देता था । अथवा यह दोनों के लिये ठीक ही है । कहा भी है—

देता है, लेता है, गुप्त बातें कहता तथा।पूछता है और खाता एवं खिलाता है यही ६ प्रकार का प्रेम कहा गया है ॥५१॥

नोपकारं विना प्रीतिः कथञ्चित्कस्यचिद्भवेत् ।

उपयाचितदानेन यतो देवा अभीष्टदाः ॥ ५२ ॥ 52

उपकार के बिना किसी की किसी से प्रीति नहीं हो सकती । क्योंकि उपयाचित "यदि मेरा अमुक काम पूरा हो जाय तो मैं आपकी अमुक प्रकार से पूजा करूंगा" इसको दिव्य दोहद अथवा उपयाचित कहते हैं । इसके करने से ही देवता भी मनोरथ को पूर्ण करते हैं ॥५२॥

तावत्प्रीतिर्भवेल्लोके यावद्दानं प्रदीयते ।
वत्सः क्षीरक्षयं दृष्ट्वा परित्यजति मातरम् ॥ ५३ ॥

प्रीति तभी तक होती है जब तक दान दिया जाता है, बछड़ा दूध को समाप्त हुआ देख कर माता को छोड़ देता है ॥५३॥

पश्य दानस्य माहात्म्यं सद्यः प्रत्ययकारणम् ।
यत्प्रभावादपि द्वेषी मित्रतां याति तत्क्षणात् ॥ ५४ ॥

तत्काल विश्वास दिलाने वाले दान के माहात्म्य को देखो, जिसके प्रभाव से शत्रु भी तुरत मित्र बन जाता है ॥५४॥

पुत्रादपि प्रियतरं खलु तेन दानं
मन्ये पशोरपि विवेकविवर्जितस्य ।
दत्ते खले नु निखिलं खलु येन दुग्धं
नित्यं ददाति महिषी ससुतापि पश्य ॥ ५५ ॥

सवत्सा महिषी भी खली देने पर अपने बच्चे तक के लिये दूध न बचाकर सारा का सारा दूध नित्य दे दिया करती है, इससे मालूम पड़ता है कि अज्ञानी पशु को भी, दान पुत्र से भी अधिक प्रिय है ॥५५॥

किं बहुना—प्रीतिं निरन्तरां कृत्वा दुर्भेद्यां नखमांसवत् ।
मूषको वायसश्चैव गतौ कृत्रिममित्रताम् ॥ ५६ ॥

बहुत क्या—नख और मांस जैसे निरन्तर है अर्थात् इन दोनोंके बीच में जैसे बाल बराबर भी अन्तर नहीं है, उसी तरह कभी बिछुड़ने लायक नहीं ऐसी घनी प्रीति उत्पन्न कर मूसा और कौवा कृत्रिम मित्र बने ॥५६॥

एवं स मूषकस्तदुपकाररञ्जितस्तथा विश्वस्तो यथा तस्य पक्षमध्ये प्रविष्टस्तेन सह सर्वदैव गोष्ठीं करोति । अथान्यस्मिन्नहनि वायसोऽश्रुपूर्णनयनः समभ्येत्य सगद्गदं तमुवाच—'भद्र हिरण्यक, विरक्तिः संजाता मे सांप्रतं देशस्यास्योपरि तदन्यत्र यास्यामि ।' हिरण्यक आह—'भद्र, किं विरक्तेः कारणम् ।' स आह—'भद्र, श्रूयताम् । अत्र देशे

महत्यानावृष्ट्या दुर्भिक्षं संजातम् । दुर्भिक्षत्वाज्जनो बुभुक्षापीडितः कोऽपि बलिमात्रमपि न प्रयच्छति । अपरं गृहे गृहे बुभुक्षितजनैर्विहङ्गानां बन्धनाय पाशाः प्रगुणीकृताः सन्ति । अहमप्यायुःशेषतया पाशेन बद्ध उद्धारितोऽस्मि । एतद्विरक्तेः कारणम् । तेनाहं विदेशं चलित इति बाष्पमोक्षं करोमि ।' हिरण्यक आह—अथ भवान् क्व प्रस्थितः । स आह—'अस्ति दक्षिणपथे वनगहनमध्ये महासरः । तत्र त्वत्तोऽधिकः परमसुहृत्कूर्मो मन्थरको नाम । स च मे मत्स्यमांसखण्डानि दास्यति । तद्भक्षणात्तेन सह सुभाषितगोष्ठीसुखमनुभवन्सुखेन कालं नेष्यामि । नाहमत्र विहङ्गानां पाशवन्धनेन क्षयं द्रष्टुमिच्छामि । उक्तं च—

इस प्रकार उसके उपकार से अनुरक्त मूसा इस तरह विश्वस्त हो गया कि उसके पांख में बैठकर सदा गोष्ठी करने लगा । इसके बाद दूसरे दिन आंख में आंसू भरे हुए गद्‌गद् कण्ठ से कौवे ने आकर उससे कहा—हे भद्र हिरण्यक ! मुझे इस देश के ऊपर विराग हो गया सो दूसरी जगह जाऊंगा । हिरण्यक ने कहा—हे भद्र । विराग में क्या कारण है ? उसने कहा—हे भद्र । सुनिये—इस देश में बहुत बड़ी अनावृष्टि के कारण अकाल पड़ गया है । अकाल के कारण भूख से पीड़ित कोई आदमी बलि भी नहीं देता है । और घर २ में भूखे मनुष्यों ने पक्षियों को पकड़ने के लिए जाल फैला रक्खा है । मैं भी आयु के शेष रहने के कारण पाश से बंधा हुआ भी बच गया हूं । यही विरागका कारण है । इसीसे मैं विदेश जाता हूं, अतः रो रहा हूँ । हिरण्यक ने कहा कि आप कहां जाते हैं । उसने कहा—दक्षिण दिशा में घने जंगल के बीच एक बड़ा भारी तालाब है वहां पर तुमसे बड़ा मेरा परम मित्र मन्थरक नाम का कछुआ रहता है । वह मुझे मछलियों के मांस के टुकड़े को देगा और उसे खाकर उसके साथ गोष्ठीसुख का अनुभव करते हुए सुख से काल बिताउंगा । मैं यहां पर पक्षियों का जाल बन्धन से नाश देखना नहीं चाहता—कहा भी है—

अनावृष्टिहते देशे सस्ये च प्रलयं गते ।
धन्यास्तात ? न पश्यन्ति देशभङ्गं कुलक्षयम् ॥ ५७ ॥

हे तात ! देश के अनावृष्टि से पीड़ित होनेपर और अन्न के नष्ट होने पर वे ही लोग धन्य हैं जो देश का तथा कुल का नाश नहीं देखते ॥५७॥

कोऽतिभारः समर्थानां किं दूरं व्यवसायिनाम् ।
को विदेशः सविद्यानां कः परः प्रियवादिनाम् ॥ ५८ ॥

जो समर्थ हैं उनके लिए अत्यन्त भार क्या चीज है ? और व्यापारियों के लिये दूर क्या चीज है ? विद्वानों के लिये विदेश कौन सा है ? मधुर भाषियों के के लिये पराया कौन है ? ॥५८॥

विद्वत्त्वं च नृपत्वं च नैव तुल्यं कदाचन ।
स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान्सर्वत्र पूज्यते' ॥ ५९ ॥

विद्वत्ता तथा राजत्व कभीं बराबर नहीं हो सकता । राजा केवल अपने देश में पूजा जाता है और विद्वान् सभी जगह पूजा जाता है ॥ ५६॥

हिरण्यक आह—'यद्येवं तदहमपि त्वया सहागमिष्यामि । ममापि महद्दुःखं वर्तते' । वायस आह—'भोः, तव किं दुःखम् । तत्कथय ।' हिरण्यक आह—भो, बहु वक्तव्यमस्त्यत्र विषये । तत्रैव गत्वा सर्वं सविस्तरं कथयिष्यामि ।' वायस आह—'अहं तावदाकाशगतिः । तत्कथं भवतो मया सह गमनम् ।' स आह—'यदि मे प्राणान्रक्षसि तदा स्वपृष्ठमारोप्य मां तत्र प्रापय, नान्यथा मम गतिरस्ति ।' तच्छ्रुत्वा सानन्दं वायस आह—'यद्येवं तद्धन्योऽहं यद्भवतापि सह तत्र कालं नयामि । अहं संपातादिकानष्टावुड्डीनगतिविशेषान्वेद्मि । तत्समारोह मम पृष्ठम् , येन सुखेन त्वां तत्सरः प्रापयामि ।' हिरण्यक आह—'उड्डीनानां नामानि श्रोतुमिच्छामि ।' स आह—

'संपातं विप्रपातं च महापातं निपातनम् ।
वक्रं तिर्यक्तथा चोर्ध्वमष्टमं लघुसंज्ञकम्' ॥ ६० ॥

हिरण्यक ने कहा—"यदि ऐसा कहते हो तो मैं भी तुम्हारे साथ चलूंगा। मुझे भी बहुत दुःख है। कौवे ने कहा—अहो! तुम्हें क्या दुःख है। हिरण्यक ने कहा—अहो–इस विषय में बहुत कुछ कहना है वहीं चलकर सब विस्तार पूर्वक कहूँगा। कौवे ने कहा कि मैं तो आकाश में चलने वाला हूँ सो मेरे साथ आपका चलना कैसे हो सकता है। वह बोला कि यदि मेरे प्राणकी रक्षा करना चाहते हो तो अपनी पीठ पर चढ़ा कर वहाँ पहुँचा देना। अन्यथा मेरी गति नहीं है। यह सुनकर आनन्द के साथ कौवे ने कहा—यदि ऐसा है तो मैं धन्य हूँ कि आप के साथ समय व्यतीत करूंगा। मैं संपात इत्यादि आठ तरह की उड़ने की विशेष चाल को जानता हूँ सो हमारी पीठ पर चढ़ो जिससे सुख पूर्वक तुम्हें तालाब पर पहुँचा दूँ। हिरण्यक ने कहा—मैं उड़ने वालों के नाम सुनना चाहता हूँ। उसने कहा—संपात, विप्रपात, महापात, निपातन, वक्र, तिर्यक् ऊर्ध्व और आठवीं का नाम लघु है ॥६०॥ 5/11/37.

तच्छ्रुत्वा हिरण्यकस्तत्क्षणादेव तदुपरि समारूढः। सोऽपि शनैः शनैस्तमादाय सम्पातोड्डीनप्रस्थितः सन् क्रमेण तत्सरः प्राप्तः। ततो लघुपतनकं मूषकाधिष्ठितं विलोक्य दूरतोऽपि देशकालविदसामान्यकाकोऽयमिति ज्ञात्वा सत्वरं मन्थरको जले प्रविष्टः। लघुपतनकोऽपि तीरस्थतरुकोटरे हिरण्यकं मुक्त्वा शाखाग्रमारुह्य तारस्वरेण प्रोवाच—'भो मन्थरक, आगच्छागच्छ। तव मित्रमहं लघुपतनको नाम वायसश्चिरात्सोत्कण्ठः समायातः। तदागत्यालिङ्गय माम्। उक्तं च—

किं चन्दनैः सकर्पूरैस्तुहिनैः किं च शीतलैः।
सर्वे ते मित्रगात्रस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥ ६१ ॥ 6।

यह सुन कर हिरण्यक उसी क्षण उसके ऊपर चढ़ा वह भी उसे लेकर धीरे २ सम्पात नाम की चाल से चलते हुये क्रमशः उस सरोवर को प्राप्त किया, तब पीठ पर मूसा बैठे हुए लघुपतनक को देखकर, देश काल को जानने वाला

मन्थरक (कछुआ) "यह कोई विचित्र कौवा है" ऐसा सोच कर जल्दी से जल में घुस गया। लघुपतनक भी तीर पर वाले वृक्ष के खोखले में हिरण्यक को रख कर ऊपर वाली शाखा पर चढ़ कर जोर से बोला हे मन्थरक! आओ। आओ। तुम्हारा मित्र मैं लघुपतनक नामका कौवा बहुत देर से बड़ी उत्कण्ठा से आया हूँ इसलिए आकर मुझे आलिङ्गन करो। कहा भी है–

कपूर के सहित घिसा हुआ चन्दन तथा शीतल तुषार ये सब मित्र के शरीर की सोलहवीं कला को भी नहीं पा सकते ॥ ६१ ॥

तथा च—केनामृतमिदं सृष्टं मित्रमित्यक्षरद्वयम्।
आपदां च परित्राणं शोकसंतापभेषजम्॥ ६२ ॥ 62

और भी—आपत्तियों से बचाने वाले तथा शोकरूपी सन्ताप का औषध "मित्र" इस दो अक्षर रूपी अमृत को किसने पैदा किया ॥ ६२ ॥

तच्छ्रुत्वा निपुणतरं परिज्ञाय सत्वरं सलिलान्निष्क्रम्य पुलकिततनुरानन्दाश्रुपूरितनयनो मन्थरकः प्रोवाच—'एह्येहि मित्र, आलिङ्गय माम्। चिरकालान्मया त्वं न सम्यक्परिज्ञातः। तेनाहं सलिलान्तः प्रविष्टः। उक्तं च—यस्य न ज्ञायते वीर्यं न कुलं न विचेष्टितम्।
न तेन संगतिं कुर्यादित्युवाच बृहस्पतिः' ॥ ६३ ॥ 63

यह सुनकर और सब अच्छी तरह जानकर जल्दी से जल से निकल कर रोमाञ्चित शरीर, तथा आनन्दपूर्णनयन मन्थरक बोला–हे मित्र! यहां आओ। आओ। मुझे आलिङ्गन करो। बहुत दिन से मैं तुझे ठीक २ न जान सका। इसीलिये मैं पानी के भीतर चला गया। कहा भी है—

जिसका बल, कुल और व्यापार मालूम नहीं है उसके साथ मेल नहीं करना चाहिये ऐसा बृहस्पति ने कहा है। ॥ ६३ ॥

एवमुक्ते लघुपतनको वृक्षादवतीर्य तमालिङ्गितवान्। अथवा साध्विदमुच्यते—

अमृतस्य प्रवाहैः किं कायक्षालनसंभवैः ।
चिरान्मित्रपरिष्वङ्गो योऽसौ मूल्यविवर्जितः ॥ ६४ ॥ 64

ऐसा कहने पर लघुपतनक ने पेड़ पर से उतर कर उसका आलिङ्गन किया, स्नान करने के लिए प्रचुर अमृत की धारा से क्या प्रयोजन है जब कि बहुत दिन के बाद मित्र का अमूल्य आलिङ्गन वर्तमान है ॥ ६४ ॥

एवं द्वावपि तौ विहितालिङ्गनौ परस्परं पुलकितशरीरौ वृक्षादधः समुपविष्टौ प्रोचतुरात्मचरित्रवृत्तान्तम् । हिरण्यकोऽपि मन्थरस्य प्रणामं कृत्वा वायसाभ्याशे समुपविष्टः । अथ तं समालोक्य मन्थरको लघुपतनकमाह—'भोः, कोऽयं मूषकः । कस्मात्त्वया भक्ष्यभूतोऽपि पृष्ठमारोप्यानीतः । तन्नात्र स्वल्पकारणेन भाव्यम् ।' तच्छ्रुत्वा लघुपतनक आह—'भोः, हिरण्यको नाम मूषकोऽयम् । मम सुहृद् द्वितीयमिव जीवितम् । तत्किं बहुना—

पर्जन्यस्य यथा धारा यथा च दिवि तारकाः ।
सिकतारेणवो यद्वत्संख्यया परिवर्जिताः ॥ ६५ ॥ 65

गुणाः संख्यापरित्यक्तास्तद्वदस्य महात्मनः ।
परं निर्वेदमापन्नः संप्राप्तोऽयं तवान्तिकम् ॥ ६६ ॥ 66

इस प्रकार दोनों आलिङ्गन करके रोमाञ्चित शरीर होकर वृक्ष के नीचे बैठ कर अपना अपना समाचार कहने लगे। हिरण्यक भी मन्थरक को प्रणाम कर कौवे के पास बैठ गया। तब उसे देख कर मन्थकर ने लघुपतनक से कहा—अहो! यह चूहा कौन है? भक्ष्य होते हुये भी पीठ पर चढ़ कर तुम इसे क्यों लाये? इसलिये यहां पर छोटा कारण नहीं हो सकता। यह सुनकर लघुपतनक ने कहा—अहो! यह हिरण्यक नाम का चूहा है और मेरा मित्र-स्वरूप दूसरा प्राण है। सो अधिक क्यां?—

जिस प्रकार मेघ की धारायें, आकाश में तारागण और बालू के कण संख्या से रहित हैं उसी तरह इस महात्मा के गुण असंख्य हैं, बहुत बड़े दुःख को प्राप्त यह तेरे पास आया है ॥ ६५ ॥ ॥६६॥

मन्थरक आह—'किमस्य वैराग्यकारणम् ।' वायस आह—'पृष्टो मया । परमनेनाभिहितम्, यद्बहु वक्तव्यमस्ति । तत्तत्रैव गत्वा कथयिष्यामि । ममापि न निवेदितम् । तद्भद्र हिरण्यक, इदानीं निवेद्यतामुभयोरप्यावयोस्तदात्मनो वैराग्यकारणम् । सोऽब्रवीत्—

मन्थरक ने कहा कि इसके वैराग्य का क्या कारण है ?, कौवे ने कहा कि मैंने पूछा परन्तु इसने कहा कि बहुत कहना है इसलिये वहीं चल कर कहूँगा । मुझसे भी नहीं कहा है । सो हे भद्र हिरण्यक ! इस समय हम दोनों से अपने वैराग्य का कारण कहो । वह कहने लगा—

कथा १

अस्ति दाक्षिणात्ये जनपदे महिलारोप्यं नाम नगरम् । तस्य नातिदूरे मठायतनं भगवतः श्रीमहादेवस्य । तत्र च ताम्रचूडो नाम परिव्राजकः प्रतिवसति स्म । स च नगरे भिक्षाटनं कृत्वा प्राणयात्रां समाचरति । भिक्षाशेषं च तत्रैव भिक्षापात्रे निधाय तद्भिक्षापात्रं नागदन्तेऽवलम्ब्य पश्चाद्रात्रौ स्वपिति । प्रत्यूषे च तदन्नं कर्मकराणां दत्वा सम्यक्तत्रैव देवतायतने संमार्जनोपलेपनमण्डनादिकं समाज्ञापयति । अन्यस्मिन्नहनि मम बान्धवैर्निवेदितम्—'स्वामिन्, मठायतने सिद्धमन्नं मूषकभयात्तत्रैव भिक्षापात्रे निहितं नागदन्तेऽवलम्बितं तिष्ठति सदैव । तद्वयं भक्षयितुं न शक्नुमः । स्वामिनः पुनरगम्यं किमपि नास्ति । तत्किं वृथाटनेनान्यत्र, अद्य तत्र गत्वा यथेच्छं भुञ्जामहे प्रसादात् ।' तदाकर्ण्याहं सकलयूथपरिवृतस्तत्क्षणादेव तत्र गतः । उत्पत्य च तस्मिन् भिक्षापात्रे समारूढः । तत्र भक्ष्यविशेषाणि सेवकानां दत्त्वा पश्चात्स्वयमेव भक्षयामि । सर्वेषां तृप्तौ

जातायां भूयः स्वगृहं गच्छामि । एवं नित्यमेव तदन्नं भक्षयामि । परिव्राजकोऽपि यथाशक्ति रक्षति । परं यदैव निद्रान्तरितो भवति, तदाहं तत्रारूह्यात्मकृत्यं करोमि । अथ कदाचित्तेन मम त्रासार्थं महान् यत्नः कृतः । जर्जरवंशः समानीतः । तेन सुप्तोऽपि मम भयाद् भिक्षापात्रं ताडयति । अहमप्यभक्षितेऽप्यन्ने प्रहारभयादपसर्पामि । एवं तेन सह सकलां रात्रिं विग्रहपरस्य कालो व्रजति । अथान्यस्मिन्नहनि तस्य मठे बृहत्स्फिङ्नामा परिव्राजकस्तस्य सुहृत्तीर्थयात्राप्रसङ्गेन पान्थः प्राघुणिकः समायातः । तं दृष्ट्वा प्रत्युत्थानविधिना संभाव्य प्रतिपत्तिपूर्वकमभ्यागतक्रियया नियोजितः । ततश्च रात्रावेकत्र कुशसंस्तरे द्वावपि प्रसुप्तौ धर्मकथां कथयितुमारब्धौ । अथ बृहत्स्फिक्कथागोष्ठीषु स ताम्रचूडो मूषकत्रासार्थं व्याक्षिप्तमना जर्जरवंशेन भिक्षापात्रं ताडयंस्तस्य शून्यं प्रतिवचनं प्रयच्छति । तन्मयो न किंचिदुदाहरति । अथासावभ्यागतः परं कोपमुपागतस्तमुवाच—भोस्ताम्रचूड, परिज्ञातस्त्वं सम्यङ् न सुहृत् । तेन मया सह साह्लादं न जल्पसि । तद्रात्रावपि त्वदीयं मठं त्यक्त्वान्यत्र मठे यास्यामि । उक्तं च—

एह्यागच्छ समाश्रयासनमिदं कस्माच्चिराद् दृश्यसे
का वार्ता ह्यतिदुर्बलोऽसि कुशलं प्रीतोऽस्मि ते दर्शनात् ।
एवं ये समुपागतान्प्रणयिनः प्रह्लादयन्त्यादरा-
त्तेषां युक्तमशङ्कितेन मनसा हर्म्याणि गन्तुं सदा ॥ ६७ ॥ 67

दक्षिण देश में महिलारोप्य नाम का एक नगर है उसके समीप ही भगवान महादेव का एक मन्दिर है वहां ताम्रचूड़ नाम का एक सन्यासी रहता था । वह उस नगर में भिक्षा मांगकर अपना जीवन व्यतीत करता था और जो बच जाता था उसे उसी भिक्षापात्र में रख कर खूंटी में टाँग कर फिर रात को सोता था । प्रातः काल उसी अन्न को काम करने वालों को देकर उसी मन्दिर में अच्छी तरह लीपना, झाड़ू दिलवाना इत्यादि काम उनसे कराता था । दूसरे दिन मेरे भाइयों ने कहा—हे स्वामिन् ! मंदिर में चूहों के भय से सिद्ध अन्न खूंटी पर

सदा टंगा रहता है वह हम लोग खा नहीं सकते। आप के लिये तो कोई कठिन नहीं है। सो दूसरी जगह घूमने से क्या लाभ? आज आपकी कृपा से वहीं जाकर हम लोग यथेच्छ भोजन करेंगे। यह सुन कर मैं अपने सब समूह के साथ उसी क्षण वहाँ गया और कूद कर उस भिक्षा पात्र पर चढ़ गया उसमें से खास खाने की वस्तु कुछ सेवकों को देकर पीछे स्वयं खाने लगता। जब सब तृप्त हो जाते थे तब फिर अपने घर को चला जाता था। इस प्रकार रोज २ उसका अन्न खाने लगा। सन्यासी भी यथाशक्ति रक्षा करने लगा परन्तु जब सो जाता था तब मैं उस पर चढ़ कर अपना काम करता जाता था। इसके बाद उसने मुझसे रक्षा करने के लिये बहुत प्रयत्न किया। एक फटा बाँस लाया। सो जाने पर भी मेरे भयसे उस बांससे उस भिक्षापात्रको पीटता था। मैं भी बिना खाये हुए ही मारके भयसे भाग जाता था। इस प्रकार रात भर उस सन्यासीके साथ लड़ाई करते हुए मेरा समय बीतता था। तब दूसरे दिन उस मन्दिरमें बृहत्स्फिक नामका एक सन्यासी उसका मित्र, तीर्थ-यात्राके सिलसिलेसे अतिथी होकर आया। उसे देख कर बड़े आदरके साथ अतिथीकी क्रियासे उसका सत्कार किया। इसके बाद रात को कुशके एक ही बिछौने पर दोनों सोकर धर्मकथा कहने लगे। तब बृहत्स्फिक के कहानी के समय ताम्रचूड़ चूहेको डराने के कारण अस्वस्थ चित्त होकर उस बांस के टुकड़ेसे भिक्षापात्रको पीटता हुआ अतिथीकी बातों पर झूठी हुँकार भरने लगा। तन्मय होकर कुछ कहता नहीं था। तब वह अतिथी बहुत क्रोध कर उससे बोला—हे ताम्रचूड़! मालूम हो गया तुम अच्छे मित्र नहीं हो, इसीलिये मेरे साथ प्रसन्न होकर वार्तालाप नहीं करते हो। इसलिये 'रात है' तो भी तुम्हारे मठको छोड़कर दूसरे मठमें चला जाता हूँ। कहा भी है—

आइये, आइये, बैठिये, यह आसन है, क्यों बहुत दिन पर दिखाई दिये? क्या बात है? आप बहुत दुर्बल हैं, कुशल तो है, आज तुम्हारे दर्शनसे प्रसन्न हूँ। इस प्रकार आये हुए पथिकोंको जो आदरसे प्रसन्न करते हैं उनके घर निर्भय होकर जाना सदा उचित है ॥६७॥

गृही यत्रागतं दृष्ट्वा दिशो वीक्षेत वाप्यधः ।
तत्र ये सदने यान्ति ते शृङ्गरहिता वृषाः ॥ ६८ ॥

जहाँ पर गृहस्थ अभ्यागतको देखकर इधर उधर देखने लगे अथवा नीचे देखने लगे तो ऐसेके घर जो जाते हैं वे बिना सींगके बैल हैं ॥६८॥

नाभ्युत्थानक्रिया यत्र नालापा मधुराक्षराः ।
गुणदोषकथा नैव तत्र हर्म्ये न गम्यते ॥ ६९ ॥

जहाँ पर अभ्युत्थान (अगुआनी) न हो मीठे मीठे वचनोंसे बातें न की जाँय और गुण दोषकी चर्चा न हो वहाँ नहीं जाना चाहिये ॥६९॥

तदेकमठप्राप्त्यापि त्वं गर्वितः । त्यक्तः सुहृत्स्नेहः । नैतद्वेत्सि यत्त्वया मठाश्रयव्याजेन नरकोपार्जनं कृतम् ।
उक्तं च—नरकाय मतिस्ते चेत्पौरोहित्यं समाचर ।
वर्षं यावत्किमन्येन मठचिन्तां दिनत्रयम् ॥ ७० ॥

सो केवल एक मठकी प्राप्तिसे तुम अभिमानी हो गये । मित्रस्नेहको भी त्याग दिया । यह नहीं समझे कि तुमने मठकी महन्तीके बहाने नरकका संग्रह किया । कहा भी है—

यदि तुम्हारी इच्छा नरक जानेकी हो तो एक वर्ष तक पौरोहित्य वृत्ति (पुरोहिताई) को करो । अथवा केवल ३ दिन तक मठके व्यवस्थाकी चिन्ता करो ॥ ७० ॥

तन्मूर्ख, शोचितव्यस्त्वं गर्वं गतः । तदहं त्वदीयं मठं परित्यज्य यास्यामि ।' अथ तच्छ्रुत्वा भयत्रस्तमनास्ताम्रचूडस्तमुवाच'—भो भगवन्! मैवं वद । न त्वत्समोऽन्यो मम सुहृत्कश्चिदस्ति । परं तच्छ्रूयतां गोष्ठीशैथिल्यकारणम् । एष दुरात्मा मूषकः प्रोन्नतस्थाने धृतमपि भिक्षापात्रमुत्प्लुत्यारोहति । भिक्षाशेषं च तत्रस्थं भक्षयति । तद्भावादेव मठे मार्जनक्रियापि न भवति । तन्मूषकत्रासार्थमेतेन वंशेन भिक्षापात्रं मुहुर्मुहुस्ताडयामि, नान्यत्कारणमिति । अपरमेतत्कुतूहलं पश्यास्य दुरात्मनो यन्मार्जा-

रमर्कटादयोऽपि तिरस्कृता अस्योत्पतनेन ।' बृहत्स्फिगाह—'अथ ज्ञायते तस्य बिलं कस्मिश्चित्प्रदेशे । ताम्रचूड़ आह—'भगवन् ! न वेद्मि सम्यक्' स आह—नूनं निधानस्योपरि तस्य बिलम् । निधानोष्मणा प्रकूर्दते ।

सो हे मूर्ख ! तू अभिमानी हो गया इस कारण शोचनीय हो । इसलिए मैं तुम्हारे मठको छोड़कर जाता हूँ । तब यह सुनकर भयभीतमन ताम्रचूड़ उससे कहने लगा—हे भगवन् ! इस प्रकार मत कहो तुम्हारे समान मेरा दूसरा कोई मित्र नहीं है परन्तु बात करते समय मुझसे जो शिथिलता हुई है उसका कारण सुनिये । यह दुष्ट चूहा ऊँचे रक्खे हुए भिक्षापात्र पर कूद कर चढ़ जाता है और उसमें रक्खे हुए भिक्षा के बचे अन्न को खा जाता है, इस मूसे के ही कारण इस मठ की मार्जन क्रिया (झाड़ू बटोरू) भी नहीं होती है । सो चूहे को डराने के लिए भिक्षापात्र को बारम्बार पीटता हूँ । और कोई दूसरा कारण नहीं है । और इस दुष्ट के कुतूहल को देखो कि कूदने में इसने बिल्ली तथा बन्दर को भी परास्त कर दिया । बृहत्स्पिक ने कहा कि उसका बिल कहाँ है ? जानते हो । ताम्रचूड़ ने कहा—हे भगवन् ! ठीक २ नहीं जानता । वह बोला—निश्चय ही निधान के ऊपर उसका बिल है । निधान की गर्मी से कूदता है ।

उक्तञ्च—ऊष्मापि वित्तजो वृद्धिं तेजो नयति देहिनाम् ।
किं पुनस्तस्य संभोगस्त्यागकर्मसमन्वितः ॥ ७१ ॥

कहा भी है—धन की गर्मी भी मनुष्य के तेज को बढ़ाती है, यदि उसका त्याग पूर्वक उपभोग हो तो क्या कहना है॥ ७१ ॥

तथा च—नाकस्माच्छाण्डिली मातर्विक्रीणाति तिलैस्तिलान् ।
लुञ्चितानितरैर्येन हेतुरत्र भविष्यति' ॥ ७२ ॥

और भी—हे माता ! शाण्डिली नामकी ब्राह्मणी बिन छाँटे हुए तिलों से अपने छाँटेहुए तिलों को सहसा जो बेच देती हैं, उसमें कोई कारण अवश्य होगा ॥७२॥

ताम्रचूड़ आह—कथमेतत् ।' स आह—

ताम्रचूड़ ने कहा—यह कैसे ? उसने कहा—

कथा २

यदाहं कस्मिंश्चित्स्थाने प्रावृट्काले व्रतग्रहणनिमित्तं कञ्चिद् ब्राह्मणं वासार्थं प्रार्थितवान् । ततश्च तद्वचनात्तेनापि शुश्रूषितः सुखेन देवार्चनपरस्तिष्ठामि । अथान्यस्मिन्नहनि प्रत्यूषे प्रबुद्धोऽहं ब्राह्मणब्राह्मणी-संवादे दत्तावधानः शृणोमि । तत्र ब्राह्मण आह—'ब्राह्मणि, प्रभाते दक्षिणायनसंक्रान्तिरनन्तदानफलदा भविष्यति । तदहं प्रतिग्रहार्थं ग्रामान्तरं यास्यामि । त्वया ब्राह्मणस्यैकस्य भगवतः सूर्यस्योद्देशेन किंचिद्भोजनं दातव्यम् ।' इति । अथ तच्छ्रुत्वा ब्राह्मणी परुषतरवचनैस्तं भर्त्सयमाना प्राह—'कुतस्ते दारिद्र्योपहतस्य भोजनप्राप्तिः । तत्किं न लज्जसे एवं ब्रुवाणः । अपि च न मया तव हस्तलग्नया क्वचिदपि लब्धं सुखम् । न मिष्टान्नस्यास्वादनम् , न च हस्तपादकण्ठादिभूषणम् । तच्छ्रुत्वा भयत्रस्तोऽपि विप्रो मन्दं मन्दं प्राह—'ब्राह्मणि, नैतद्युज्यते वक्तुम् । उक्तञ्च

एक समय मैंने वर्षाकाल में व्रत लेने के कारण नियम पालन के निमित्त किसी स्थानमें रहनेके लिए एक ब्राह्मणकी प्रार्थना की । उसके बाद उसकी अनु-मति प्राप्त कर उससे भी सेवा किया गया मैं सुख पूर्वक देवता की पूजा करते हुए रहने लगा । दूसरे दिन प्रातः काल उठ कर मैंने ब्राह्मण और ब्राह्मणीके वार्तालाप को ध्यान देकर सुना । वहाँ ब्राह्मण कहने लगा—हे ब्राह्मणि ! सवेरे दक्षिणायन संक्रान्ति है । जो कि असंख्य दान देने के फल को देने वाली होगी इसलिए मैं दान लेने के लिए दूसरे गांव जाऊँगा तुम किसी एक ब्राह्मण को भगवान् सूर्य नारायण के निमित्त कुछ भोजन दे देना । तब यह सुन कर ब्राह्मणी कठोर वचनों से उसको फटकारते हुए बोली—दरिद्रतासे पीड़ित तुमको भोजन कहां मिल सकता है ? फिर भी ऐसा कहते हुए लज्जित क्यों नहीं होते ? जब से तुम्हारे हाथ में पड़ी हूँ । मैंने कभी भी सुख नहीं पाया न मिठाईका स्वाद मिला, न हाथ, पैर और गले में अलंकार पहनने को मिले । यह सुनकर भयभीत भी वह ब्राह्मण धीरे-धीरे कहने लगा—हे ब्राह्मणि ! यह कहना ठीक नहीं है । कहा भी है—

ग्रासादपि तदर्धं च कस्मान्नो दीयतेऽर्थिषु ।
इच्छानुरूपो विभवः कदा कस्य भविष्यति ॥ ७३ ॥

कौर (ग्रास) अथवा उसका आधा ही सही याचकों को क्यों न दिया जाय ? अपनी इच्छा के अनुसार विभव कब किसे होगा ॥ ७३ ॥

ईश्वरा भूरिदानेन यल्लभन्ते फलं किल ।
दरिद्रस्तच्च काकिण्या प्राप्नुयादिति नः श्रुतिः ॥ ७४ ॥

ऐश्वर्य वाले बहुत बड़े दान से जो फल पाते हैं वह, फल, दरिद्र एक टुकड़ा देकर भी प्राप्त कर सकता है ऐसा हम लोगों के शास्त्र में कहा है ॥७४॥

दाता लघुरपि सेव्यो भवति न कृपणो महानपि समृद्ध्या ।
कूपोऽन्तःस्वादुजलः प्रीत्यै लोकस्य न समुद्रः ॥ ७५ ॥

दाता यदि छोटा भी हो तो सेव्य है और बड़ी समृद्धि वाला भी कृपण सेव्य नहीं है। भीतर स्वादु जलवाला कूप संसार की प्रीति के लिए होता है, समुद्र नहीं ॥ ७५ ॥

तथा च—अकृतत्यागमहिम्ना मिथ्या किं राजराजशब्देन ।
गोप्तारं न निधीनां कथयन्ति महेश्वरं विबुधाः ॥ ७६ ॥

जिसने त्याग (दान) की महिमा नहीं जानी, उसके राजराज शब्द से क्या लाभ ? खजाने के रक्षक को पण्डित लोग महेश्वर नहीं कहते ॥ ७६ ॥

अपि च—सदा दानपरिक्षीणः शस्त एव करीश्वरः ।
अदानः पीनगात्रोऽपि निन्द्य एव हि गर्दभः ॥ ७७ ॥

और भी—दान (मदजल) से दुर्बल भी हाथी सदा प्रशंसनीय है और दानहीन मोटा गदहा भी निन्द्य है ॥ ७७ ॥

सुशीलोऽपि सुवृत्तोऽपि यात्यदानादधो घटः ।
पुनः कुब्जापि काणापि दानादुपरि कर्कटी ॥ ७८ ॥

दान के बिना (अर्थात् जल न देने वाला) घट (खाली घड़ा) सुशील (मङ्गल कार्यों में पूजा पाने के कारण अच्छी प्रकृति वाला) तथा सुवृत्त (गोलाकार,

सुडौल) होते हुए भी जलाशय में डालने पर अधोमुख ही रहता है और कुबड़ी कानी भी ककड़ी पथिकों के प्यास को शान्त करने के कारण ऊपर ही रहा करती है ॥ ७८ ॥

यच्छ्ञ्जलमपि जलदो वल्लभतामेति सकललोकस्य ।
नित्यं प्रसारितकरो मित्रोऽपि न वीक्षितुं शक्यः ॥ ७९ ॥

काला भी मेघ, जल दान करने के कारण संसार का प्रिय होता है और कर (किरण) फैलाया हुआ भी मित्र (सूर्य) देखा नहीं जा सकता ॥ ७६ ॥

एवं ज्ञात्वा दारिद्र्याभिभूतैरपि स्वल्पात्स्वल्पतरं काले पात्रे च देयम् । उक्तञ्च सत्पात्रे महती श्रद्धा देशे काले यथोचिते ।
यद्दीयते विवेकज्ञैस्तदानन्त्याय कल्पते ॥ ८० ॥

ऐसा जान कर दरिद्रता से पीड़ित होते हुए भी समय आने पर थोड़े से भी थोड़ा क्यों न हो सुपात्र को अवश्य देना चाहिए । कहा भी है—

सत्पात्र (योग्य व्यक्ति) बड़ी श्रद्धा का स्थान है, विचारवान् पुरुषों द्वारा काशी जैसी पवित्र पुरी में और ग्रहण आदि जैसे पवित्र पर्व में योग्य पात्र में जो दान दिया जाता है वह अनन्त फल वाला होता है ॥ ८० ॥

तथा च—अतितृष्णा न कर्त्तव्या तृष्णां नैव परित्यजेत् ।
अतितृष्णाभिभूतस्य शिखा भवति मस्तके ॥ ८१ ॥

ब्राह्मण्याह—'कथमेतत् ।' स आह—

और भी—अत्यन्त तृष्णा नहीं करनी चाहिए और तृष्णा को छोड़ना भी नहीं चाहिए । अत्यन्त तृष्णा से व्याप्त व्यक्ति के मस्तक पर शिखा होती है ॥ ८१ ॥

ब्राह्मणी ने कहा—यह कैसे ? वह कहने लगा—

कथा ३

अस्ति कस्मिंश्चिद्वनोद्देशे कश्चित्पुलिन्दः । स च पापर्द्धिं कर्तुं वनं प्रति प्रस्थितः । अथ तेन प्रसर्पता महानञ्जनपर्वतशिखराकारः क्रोडः समासादितः । तं दृष्ट्वा कर्णान्ताकृष्टनिशितसायकेन समाहतः । तेनापि कोपाविष्टेन चेतसा बालेन्दुद्युतिना दंष्ट्राग्रेण पाटितोदरः पुलिन्दो गता-

सुभूतले न्यपतत्। अथ लुब्धकं व्यापाद्य शूकरोऽपि शरप्रहारवेदनया पञ्चत्वं गतः। एतस्मिन्नन्तरे कश्चिदासन्नमृत्युः शृगाल इतस्ततो निराहार-तया पीडितः परिभ्रमंस्तं प्रदेशमाजगाम। यावद्वराहपुलिन्दौ द्वावपि पश्यति तावत्प्रहृष्टो व्यचिन्तयत्—'भोः, सानुकूलो मे विधिः। तेनै-वैतदचिन्तितं भोजनमुपस्थितम्। अथवा साध्विदमुच्यते—

किसी एक जंगल में कोई म्लेच्छ (जंगली आदमी) था। वह पाप की वृद्धि करने के लिए वन में गया। उसके बाद जाते हुए उसने काले पर्वत के शिखर के सदृश एक बड़ा सूअर पाया। उसको देखकर कान तक खींचे हुए अपने पैने बाणों से उसको मारा, अति क्रुद्ध होकर सूअर ने भी बाल चन्द्रमा के समान कान्ति वाले अपने दांतों से उसका पेट फाड़ डाला, जिससे वह म्लेच्छ प्राणरहित हो पृथ्वी पर गिर पड़ा, उसकेबाद वह सूअर भी व्याध को मार कर उसके बाण के प्रहार की वेदना से स्वयं मृत्यु को प्राप्त हुआ। इसी समय निकट मृत्यु वाला कोई सियार आहार न मिलने के कारण दुःखित हो इधर उधर घूमता हुआ उसी जगह आया। जब तक वह सूअर और म्लेच्छ को देखता है। तब तक प्रसन्न होकर सोंचने लगा—अहो! मेरा भाग्य अनुकूल है, उसी से यह एकाएक भोजन मिला। अथवा यह ठीक कहा है—

अकृतेऽप्युद्यमे पुंसामन्यजन्मकृतं फलम्।
शुभाशुभं समभ्येति विधिना संनियोजितम्॥ ८२॥

बिना उद्योग किए भी मनुष्यों को दूसरे जन्म में किया हुआ अच्छा अथवा बुरा फल विधाता की योजना से प्राप्त होता है॥ ८२॥

तथा च—यस्मिन्देशे च काले च वयसा यादृशेन च।
कृतं शुभाशुभं कर्म तत्तथा तेन भुज्यते॥ ८३॥

जिस स्थान पर जिस समय में जिस किसी अवस्था में जिसने जैसा शुभ अथवा अशुभ कर्म किया है, उसको वैसा ही भोगना पड़ता है॥ ८३॥

तदहं तथा भक्षयामि यथा बहून्यहानि मे प्राणयात्रा भवति। तत्तावदेनं स्नायुपाशं धनुष्कोटिगतं भक्षयामि।

इसलिए मैं उस तरह खाऊँ जिस तरह बहुत दिनों तक मेरा जीवन निर्वाह होता रहे। इसलिए पहले चमड़े की डोरी को जो इसके धनुष के अग्रभाग में लगी है उसे भक्षण करता हूँ।

उक्तञ्च—शनैः शनैश्च भोक्तव्यं स्वयं वित्तमुपार्जितम्।
रसायनमिव प्राज्ञैर्हेलया न कदाचन ॥ ८४ ॥

कहा है—बुद्धिमानोंको अपनेसे पैदा किया हुआ धन धीरे-धीरे खाना चाहिए। जैसे रसायन। उसमें अनादर करना नहीं चाहिए ॥ ८४ ॥

इत्येवं मनसा निश्चित्य चापचटितकोटिं मुखमध्ये प्रक्षिप्य स्नायुं भक्षितुं प्रवृत्तः। ततश्च त्रुटिते पाशे तालुदेशं विदार्य चापकोटिर्मस्तकमध्येन निष्क्रान्ता। सोऽपि तद्वेदनया तत्क्षणान्मृतः। अतोऽहं ब्रवीमि—'अतितृष्णा न कर्तव्या' इति ॥ स पुनरप्याह— ब्राह्मणि, न श्रुतं भवत्या ?

मन में ऐसा निश्चय कर धनुष के एक कोटि (छोर) को मुँह में डालकर चमड़ेकी डोर को चबाने लगा। तब उसके बन्धन के टूटते ही तालुदेश को फाड़ कर धनुष का छोर उसके शिरको छेद कर बाहर निकल आया, वह भी उसके कष्ट से उसी समय मर गया। इसलिए मैं कहता हूँ—अधिक तृष्णा न करे इत्यादि।

वह फिर बोला—'ब्राह्मणि ? आपने नहीं सुना कि—

आयुः कर्म च वित्तं च विद्यानिधनमेव च।
पञ्चैतानि हि सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः' ॥ ८५ ॥

जीव जब गर्भ में रहता है, उसी समय उसकी आयु, कर्म, धन, विद्या और मरण ये पांच चीजें बना दी जाती है ॥ ८५ ॥

अथैवं सा तेन प्रबोधिता ब्राह्मण्याह—'यद्येवं तदस्ति मे गृहे स्तोकस्तिलराशिः। ततस्तिलांल्लुञ्चित्वा तिलचूर्णेन ब्राह्मणं भोजयिष्यामि' इति। ततस्तद्वचनं श्रुत्वा ब्राह्मणो ग्रामं गतः। सापि तिलानुष्णोदकेन संमर्द्य कुटित्वा सूर्यातपे दत्तवती। अत्रान्तरे तस्या गृहकर्मव्यग्रायास्तिलानां मध्ये कश्चित्सारमेयो मूत्रोत्सर्गं चकार। तं दृष्ट्वा सा चिन्तितवती—

'अहो, नैपुण्यं पश्य पराङ्मुखीभूतस्य विधेः, यदेते तिला अभोज्याः कृताः। तदहमेतान्समादाय कस्यचिद् गृहं गत्वा लुञ्चितैरलुञ्चितानानयामि। सर्वोऽपि जनोऽनेन विधिना प्रदास्यति' इति'। अथ यस्मिन् गृहेऽहं भिक्षार्थं प्रविष्टस्तत्र गृहे सोऽपि तिलानादाय प्रविष्टा विक्रयं कर्तुम्। आह च—'गृह्णातु कश्चिदलुञ्चितैर्लुञ्चितास्तिलान्।' अथ तद्गृहगृहिणी गृहं प्रविष्टा यावदलुञ्चितैर्लुञ्चितान् गृह्णाति, तावदस्याः पुत्रेण कामन्दकीयशास्त्रं दृष्ट्वा व्याहृतम्—'मातः! अग्राह्याः खल्विमे तिलाः। नास्या अलुञ्चितैर्लुञ्चिता ग्राह्याः। कारणं किञ्चिद्भविष्यति। तेनैषाऽलुञ्चितैर्लुञ्चितान्प्रयच्छति।' तच्छ्रुत्वा तया परित्यक्तास्ते तिलाः। अतोऽहं ब्रवीमि—'नाकस्माच्छाण्डिली मातः' इति। एतदुक्त्वा स भूयोऽपि प्राह—'अथ ज्ञायते तस्य क्रमणमार्गः। ताम्रचूड आह—'भगवन्! ज्ञायते, यत एकाकी न समागच्छति, किंत्वसंख्ययूथपरिवृतः पश्यतो मे परिभ्रमन्नितस्ततः सर्वजनेन सहागच्छति याति च।' अभ्यागत आह—'अस्ति किंचित्खनित्रकम्।' स आह—'बाढमस्ति। एषा सर्वलोहमयी स्वहस्तिका।' अभ्यागत आह—'तर्हि प्रत्यूषे त्वया मया सह स्थातव्यम्, येन द्वावपि जनचरणामलिनायां भूमौ तत्पदानुसारेण गच्छावः। मयापि तद्वचनमाकर्ण्य चिन्तितम्—'अहो! विनष्टोऽस्मि, यतोऽस्य साभिप्रायवचांसि श्रूयन्ते। नूनं यथा निधानं ज्ञातं तथा दुर्गमप्यस्माकं ज्ञास्यति। एतदभिप्रायादेव ज्ञायते।

इस प्रकार उससे समझाई गई वह ब्राह्मणी बोली—"यदि ऐसा है तो मेरे घरमें थोड़े तिल हैं उनको छाँट कर उसके चूर्ण से ब्राह्मण को भोजन कराऊँगी' तब उसके यह बचन सुनकर ब्राह्मण गांव में गया। उस ब्राह्मणी ने तिलों को गरम जलसे मलकर कूटकर धूप में सूखने के लिए दे दिया, इसी अवसर में गृहकार्यों में उसके व्यग्र होने पर किसी कुत्ते ने उन तिलों में मूत दिया। यह देखकर वह सोचने लगी।

"अहो प्रतिकूल विधाता की चतुरता देखो कि ये तिल अभक्ष्य कर दिये। इसलिये मैं इनको लेकर किसी के घर जाकर छाँटे हुए तिलों से बिना छाँटे

हुए तिल ले आती हूँ। सभी लोग इस प्रकार दे देंगे" फिर जिस घर में मैं भिक्षा के लिये गया था उसी घर में वह भी तिलों को लेकर वेचने के लिये गई और बोली—"विना साफ किये तिलों से साफ किये तिल कोई ले लो" इसके बाद उस घर की स्त्री घर में जाकर जब तक बिना धुले तिलोंसे धुले तिल लेती है, तब तक उसके लड़के ने कामन्दकीय नीति शास्त्र को देख कर कहा— हे माता ! ये तिल लेने लायक नहीं है। इसके धोये हुये तिल अपने बिना धोये तिलों को देकर लेना ठीक नहीं। कुछ कारण होगा जिससे यह बिना धोये हुये तिलों से अपने धोये हुये तिलों को बदलती है, यह सुन कर उसने उन तिलों को त्याग दिया। इसलिये मैं कहता हूँ—हे माता ! अकस्मात् ब्राह्मणी नहीं-इत्यादि। यह सुन कर उसने फिर भी कहा—क्या तुम उसके निकलने का रास्ता जानते हो ? ताम्रचूड़ ने कहा—हे भगवन् ! जानता हूँ। क्योंकि वह अकेले नहीं आता है किन्तु असंख्य साथियों से घिरा हुआ मेरे देखते ही इधर उधर आता है और जाता है। अभ्यागत ने कहा—कोई खनने वाली चीज है ? वह बोला—हाँ, है। यह देखिये सर्व लोहमयी स्वहस्तिका (फरसा) है। अभ्यागत ने कहा—तो सवेरे तुम मेरे साथ रहना जिससे आदमियों के चलने से जो भूमि मलिन नहीं हुई है उस पर उसके पैरों के चिन्ह के अनुसार हम लोग चलेंगे। मैंने भी उनके वचन को सुनकर सोचा—अहो ! मैं नष्ट हो गया, क्योंकि इसके साभिप्राय वचन सुन पड़ते हैं। निश्चय है कि इसने जैसे निधान (खजाना) जान लिया वैसे ही वह किला भी जान जायगा। यह इसके अभिप्राय से जाना जाता है। कहा भी है—

उक्तञ्च—सकृदपि दृष्ट्वा पुरुषं विबुधा जानन्ति सारतां तस्य।
हस्ततुलयापि निपुणाः पलप्रमाणं विजानन्ति ॥८६॥

पण्डित लोग एक बार भी मनुष्य को देखकर उसके तत्व को समझ जाते हैं। चतुर मनुष्य हथेली रूप तराजू से भी बल (भार) के प्रमाण को मालूम कर लेते हैं॥ ८६ ॥

वाञ्छैव सूचयति पूर्वतरं भविष्यं
पुंसां यदन्यतनुजं त्वशुभं शुभं वा ।
विज्ञायते शिशुरजातकलापचिह्नः
प्रत्युद्गतैरपसरन्सरसः कलापी ॥८७॥

मनुष्यों के अन्य (पूर्व) जन्म का जो कुछ अशुभ या शुभ कर्म है अथवा जो कुछ पूर्वतर भविष्य है उसको उसकी अभिलाषा ही जना देती है । सरोवर से चलता हुआ मोर का बच्चा चितकबरे उसके पंखचिन्ह के न होते हुए भी अपनी चालों से मालूम पड़ जाता है कि यह मोर का बचा है । ॥ ८७ ॥

ततोऽहं भयत्रस्तमनाः सपरिवारो दुर्गमार्गं परित्यज्यान्यमार्गेण गन्तुं प्रवृत्तः सपरिजनो यावदग्रतो गच्छामि तावत्सम्मुखो बृहत्कायो मार्जारः समायाति । स च मूषकवृन्दमवलोक्य तन्मध्ये सहसोत्पपात । अथ ते मूषका मां कुमार्गगामिनमवलोक्य गर्हयन्तो हतशेषा रुधिरप्लावितवसुन्धरास्तमेव दुर्गं प्रविष्टाः । अथवा साध्विदमुच्यते—

छित्त्वा पाशमपास्य कूटरचनां भङ्क्त्वा बलाद्वागुरां
पर्यन्ताग्निशिखाकलापजटिलान्निर्गत्य दूरं वनात् ।
व्याधानां शरगोचरादपि जवेनोत्पत्य धावन्मृगः
कूपान्तः पतितः करोतु विधुरे किंवा विधौ पौरुषम् ॥८८॥

तब मैं भयभीत मन हो सपरिवार अपने किले का मार्ग छोड़ कर दूसरे मार्ग से जाने लगा । सपरिवार जब तक आगे जाता हूँ तब तक सामने से एक बड़े शरीर वाला बिलार आता हुआ दिखाई दिया । वह चूहों के समूह को देखकर उनके बीच में सहसा उछल पड़ा । उसके बाद कुमार्गगामी मुझे देखकर मेरी निन्दा करते हुए बिलार की शिकार से बचे, रक्त से पृथ्वी को सींचते हुए अधमरे चूहे उसी अपने किले में घुस गये । अथवा यह ठीक ही कहा है:—

जाल को काटकर कपट रचना को व्यर्थ कर बल से रस्सी को तोड़कर चारों ओर जलती हुई अग्नि की प्रचंड ज्वाला से व्याप्त वन से दूर जाकर व्याधों के

लक्ष्य से भी अगोचर होकर वेग से दौड़ता हुआ मृग कुएँ में गिर गया। ठीक ही है, विधाता के रुष्ट होने पर पुरुषार्थ क्या कर सकता है ? ॥ ८८ ॥

अथाहमेकोऽन्यत्र गतः, शेषा मूढतया तत्रैव दुर्गे प्रविष्टाः। अत्रान्तरे स दुष्टपरिव्राजको रुधिरविन्दुचर्चितां भूमिमवलोक्य तेनैव दुर्गमार्गेणागत्योपस्थितः। ततश्च स्वहस्तिकया खनितुमारब्धः। अथ तेन खनता प्राप्तं तन्निधानं यस्योपरि सदैवाहं कृतवसतिर्यस्योष्मणा सहादुर्गमपि गच्छामि। ततो हृष्टमनास्ताम्रचूड़मिदमूचेऽभ्यागतः—'भो भगवन्! इदानीं स्वपिहि निःशङ्कः। अस्योष्मणा मूषकस्ते जागरणं संपादयति।' एवमुक्त्वा निधानमादाय मठाभिमुखं प्रस्थितौ द्वावपि। अहमपि यावन्निधानरहितं स्थानमागच्छामि, तावदरमणीयमुद्वेगकारकं तत्स्थानं वीक्षितुमपि न शक्नोमि। अचिन्तयं च—'किं करोमि। क गच्छामि। कथं मे स्यान्मनसः प्रशान्तिः।' एवं चिन्तयतो महाकष्टेन स दिवसो व्यतिक्रान्तः अथास्तमितेऽर्के सोद्वेगो निरुत्साहस्तस्मिन्मठे सपरिवारः प्रविष्टः अथास्मत्परिग्रहशब्दमाकर्ण्य ताम्रचूडोऽपि भूयो भिक्षापात्रं जर्जरवंशेन ताडयितुं प्रवृत्तः। अथासावभ्यागतः प्राह—'सखे! किमद्यापि निःशङ्को न निद्रां गच्छसि।' स आह—'भगवन्! भूयोऽपि समायातः सपरिवारः स दुष्टात्मा मूषकः। तद्भयाज्जर्जरवंशेन भिक्षापात्रं ताडयामि।' ततो विहस्याभ्यागतः प्राह—'सखे! मा भैषीः वित्तेन सह गतोऽस्य कूर्दनोत्साहः। सर्वेषामपि जन्तूनामियमेव स्थितिः। उक्तं च—

> यदुत्साही सदा मर्त्यः पराभवति यज्जनान्।
> यदुद्धतं वदेद्वाक्यं तत्सर्वं वित्तजं बलम् ॥८९॥

तब मैं अकेला दूसरी जगह चला गया और शेष मूर्खता से उसी किले में चले गये। उसी समय वह दुष्ट सन्यासी रक्तों की बूंदों से रञ्जित पृथ्वी को देख कर उसी दुर्ग मार्ग से आ उपस्थित हुआ। उसके बाद फरसा से खनने लगा। तब खनते हुए उसने उस निधान खजाना को पा लिया जिसके ऊपर सदैव हम

लोग निवास करते थे और जिसकी उष्णता से महादुर्ग में भी जाते थे। तब प्रसन्न होकर उस अभ्यागत ने ताम्रचूड़ से कहा—हे भगवन्! अब बिना डर सोइये, इसी की गर्मी से चुहे तुम्हें जगाये रखते थे। इस प्रकार कह कर उस निधान को लेकर वे दोनों मठ की तरफ चले। मैं भी जब तक निधान रहित स्थान पर आता हूं तब तक अरमणीय तथा व्याकुलता बढ़ाने वाले उस स्थान को देख न सका और सोचने लगा—क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? किस प्रकार मेरे मन की शान्ति हो? इस प्रकार सोचते हुए बड़े कष्ट से वह दिन बीता। उसके बाद सूर्यास्त होने पर घबड़ाया हुआ तथा निरुत्साह मैं सपरिवार उस मठ में घुसा। उस ताम्रचूड़ ने मेरे समूह के शब्दों को सुन कर उस भिक्षापात्र को पुराने बांस से पीटना शुरू किया। तब उस अभ्यागत ने कहा—हे मित्र! क्या अभी भी तुम निर्भय होकर नहीं सोते हो? वह बोला—हे भगवन्! अपने परिवार के साथ फिर वह दुष्ट चूहा आया है, उसके डर से फटहे बांस से भिक्षापात्र का ताड़न करता हूँ। तब हंसकर अभ्यागत ने कहा—हे मित्र! मत डरो, धन के साथ ही इसका कूदने का उत्साह नष्ट हो गया। सभी प्राणियों का यही नियम है। कहा भी है—

प्राणी जो उत्साही बना रहता है, लोगों पर जो सदा विजय पाता रहता है और उद्दण्ड की तरह जो बोला करता है यह सब धन का ही बल है॥ ८९॥

अथाहं तच्छ्रुत्वा कोपाविष्टो भिक्षापात्रमुद्दिश्य विशेषादुत्कूर्दितोऽप्राप्त एव भूमौ निपतितः। तच्छ्रुत्वासौ मे शत्रुर्विहस्य ताम्रचूडमुवाच—'भोः पश्य पश्य कौतूहलम्।'

आह च—अर्थेन बलवान्सर्वोऽप्यर्थयुक्तः स पण्डितः।
पश्यैनं मूषकं व्यर्थं स्वजातेः समतां गतम्॥९०॥

इसके बाद यह सुन कर मैं क्रोध से भिक्षापात्र के लिए जोर से कूदा परन्तु उसे बिना प्राप्त किये ही जमीन पर गिर पड़ा। यह देखकर उस मेरे शत्रु ने हंसकर ताम्रचूड़ से कहा—अहो! देखो देखो कौतूहल और बोला भी—

धन से ही सब बलवान हैं और धन से सब पण्डित हैं अब अपनी जाति के और २ चूहों के समान अर्थ हीन इस चूहे को देखो ॥ ९० ॥

तत् स्वपिहि त्वं गतशङ्कः । यदस्योत्पतनकारणं तदावयोर्हस्तगतं जातम् । अथवा साध्विदमुच्यते—

दंष्ट्राविरहितः सर्पो मदहीनो यथा गजः ।
तथार्थेन विहीनोऽत्र पुरुषो नामधारकः ॥९१॥

इसलिये तुम निःशंक होकर शयन करो जो इसके कूदने का कारण था वह हमारे हाथ आ गया । अथवा यह ठीक ही कहा जाता है—

जहरीले दाँत से रहित सर्प तथा मदहीन हाथी जैसे केवल नाममात्र से अपना परिचय दिया करते हैं, फल से नहीं, उसी तरह धनहीन मनुष्य भी समझना । ॥ ९१ ॥

तच्छ्रुत्वाहं मनसा विचिन्तितवान्—'यतोऽङ्गुलिमात्रमपि कूर्दनाशक्तिर्नास्ति, तद्धिगर्थहीनस्य पुरुषस्य जीवितम् ।

उक्तं च—अर्थेन च विहीनस्य पुरुषस्याल्पमेधसः ।
उच्छिद्यन्ते क्रियाः सर्वा ग्रीष्मे कुसरितो यथा ॥९२॥

यह सुन कर मैंने अपने मन में सोचा जिस कारण एक अंगुली भी ऊँचे कूदने की शक्ति नहीं है इस कारण अर्थहीन पुरुष के जीने को धिक्कार है । कहा भी है—

थोड़ी बुद्धि वाले अर्थहीन मनुष्य के सभी कार्य्य, गरमी के दिनों की छोटी छोटी नदियों की तरह नष्ट हो जाते हैं ॥ ९२ ॥

यथा काकयवाः प्रोक्ता यथारण्यभवास्तिलाः ।
नाममात्रा न सिद्धौ हि धनहीनास्तथा नराः ॥९३॥

जिस प्रकार काकयव तथा बनैले तिल केवल नाम मात्र के लिये हैं, उनसे कुछ कार्य्य नहीं होता, उसी तरह धन हीन मनुष्य भी नाम मात्र के ही मनुष्य हैं, उनसे कुछ काम नहीं निकलता ॥ ९३ ॥

सन्तोऽपि न हि राजन्ते दरिद्रस्येतरे गुणाः ।
आदित्य इव भूतानां श्रीर्गुणानां प्रकाशिनी ॥९४॥

दरिद्र मनुष्य के और और गुण रहते हुए भी वे शोभा नहीं पाते । सूर्य्य से जैसे समस्त वस्तु प्रकाशित होती है उसी तरह प्राणियों के सभी गुण का प्रकाश लक्ष्मी से होता है ॥ ९४ ॥

न तथा बाध्यते लोके प्रकृत्या निर्धनो जनः ।
यथा द्रव्याणि संप्राप्य तैर्विहीनः सुखे स्थितः ॥९५॥

स्वभाव से धनहीन मनुष्य इस संसार में उतना कष्ट नहीं पाता जितना धनवान होकर फिर धनहीन हुआ मनुष्य कष्ट पाता है ॥ ९५ ॥

शुष्कस्य कीटखातस्य वह्निदग्धस्य सर्वतः ।
तरोरप्यूषरस्थस्य वरं जन्म न चार्थिनः॥ ९६॥

सूखे, कीड़ों से खाये हुये, चारों तरफ आग से जले हुये और ऊषर में वर्त्तमान वृक्ष का भी जीवन अच्छा है परन्तु भिक्षुक का नहीं ॥ ९६ ॥

शङ्कनीया हि सर्वत्र निष्प्रतापा दरिद्रता ।
उपकर्तुमपि प्राप्तं निःस्वं संत्यज्य गच्छति ॥९७॥

प्रताप रहित दारिद्रय से सदा डरना चाहिये । उपकार करने के लिये आय हुए भी व्यक्ति को निर्धन समझ लोग उसे छोड़ दिया करते हैं ॥ ९७ ॥

उन्नम्योन्नम्य तत्रैव निर्धनानां मनोरथाः ।
हृदयेष्वेव लीयन्ते विधवास्त्रीस्तनाविव ॥९८॥

निर्धन मनुष्य के मनोरथ ऊंचे उठ उठ कर विधवा स्त्री के स्तन की तरह हृदय में ही लीन होजाते हैं, सफल नहीं हो पाते ॥ ९८ ॥

व्यक्तेऽपि वासरे नित्यं दौर्गत्यतमसावृतः ।
अग्रतोऽपि स्थितो यत्नान्न केनापीह दृश्यते' ॥९९॥

प्रकाश युक्त दिनों में भी, नित्य दुर्गतिरूपी अन्धकार से घिरा हुआ अर्थहीन व्यक्ति सामने रहने पर भी किसी से देखा नहीं जाता ॥ ९९ ॥

एवं विलप्याहं भग्नोत्साहस्तन्निधानं गण्डोपधानीकृतं दृष्ट्वा स्वं दुर्गं प्रभाते गतः । ततश्च मद्भृत्याः प्रभाते गच्छन्तो मिथो जल्पन्ति—'अहो ! असमर्थोऽयमुदरपूरणेऽस्माकम् । केवलमस्य पृष्ठलग्नानां विडालादिविपत्तयः । तत्किमनेनाराधितेन ।

उक्तं च—यत्सकाशान्न लाभः स्यात्केवलाः स्युर्विपत्तयः ।
स स्वामी दूरतस्त्याज्यो विशेषादनुजीविभिः ॥१००॥

इस प्रकार विलाप कर नष्टोत्साह मैं उस निधान को कपोल के नीचे रखा देखकर सवेरे अपने किले में गया उसके बाद मेरे अनुचर सवेरे जाते हुये परस्पर कहने लगे—अहो ! यह हमलोगों के पेट को भरने में असमर्थ है । केवल इसके पीछे रहने से बिलार आदि से आने वाली विपत्तियाँ प्राप्त होती हैं, इसलिये इसकी आराधना से क्या लाभ ? कहा भी है—

जिससे कोई लाभ नहीं केवल विपत्तियाँ हैं ऐसा स्वामी विशेष रूप से अनुचरों द्वारा छोड़ दिया जाना चाहिये ॥ १०० ॥

एवं तेषां वचांसि श्रुत्वा स्वदुर्गं प्रविष्टोऽहम् । यावन्नो कश्चिन्मम संमुखेऽभ्येति तावन्मया चिन्तितम् 'धिगियं दरिद्रता । अथवा साध्विदमुच्यते—

मृतो दरिद्रः पुरुषो मृतं मैथुनमप्रजम् ।
मृतमश्रोत्रियं श्राद्धं मृतो यज्ञस्त्वदक्षिणः' ॥१०१॥

इस प्रकार उनके वचन को सुनकर मैंने अपने दुर्ग में प्रवेश किया । जब तक कोई मेरे सामने नहीं आता है तब तक मैंने सोचा—"इस दरिद्रता को धिक्कार है" अथवा यह ठीक ही कहा जाता है—

दरिद्र मनुष्य मरे के बराबर है, जिससे सन्तान उत्पन्न न हो ऐसा मैथुन मरे के बराबर है, बिना वेदपाठी के श्राद्ध मरे के बराबर है और बिना दक्षिणा के यज्ञ मरे के बराबर है ॥ १०१ ॥

एवं मे चिन्तयतस्ते भृत्या मम शत्रूणां सेवका जाताः । ते च मामेकाकिनं दृष्ट्वा विडम्बनां कुर्वन्ति । अथ मयैकाकिना योगनिद्रां गतेन भूयो

विचिन्तितम्—'यत्तस्य कुतपस्विनः समाश्रयं गत्वा तद्गण्डोपधानवर्तिकृतां वित्तपेटां शनैः शनैर्विदार्य तस्य निद्रावशंगतस्य स्वदुर्गे तद्वित्तमानयामि, येन भूयोऽपि मे वित्तप्रभावेणाधिपत्यं पूर्ववद्भविष्यति।
उक्तं च—व्यथयन्ति परं चेतो मनोरथशतैर्जनाः ।
नानुष्ठानैर्धनैर्हीनाः कुलजा विधवा इव ॥१०२॥

इस प्रकार मुझे चिन्ता करते हुए, मेरे वे भृत्य मेरे शत्रुओं के सेवक बन गये। और वे मुझे अकेला देखकर मेरा उपहास करने लग गये। इसके बाद मैं एकबार योगनिद्रा में स्थित हो फिर सोचने लगा कि उस दुष्ट तपस्वी के स्थान पर जाकर उसके सो जाने पर कपोल के नीचे रक्खी हुई धन की गठडी को धीरे धीरे फाड़कर उसके उस धन को ले आऊं जिससे फिर भी पहले की तरह धन के प्रभाव से मेरा आधिपत्य होगा। कहा भी है—

, कुलीन विधवाओं के मनोरथों की तरह, धनाभाव के कारण कार्य में परिणत न होने वाले मनोरथ दरिद्री जनों के चित्त को सताया करते हैं।॥१०२॥

दौर्गत्यं देहिनां दुःखमपमानकरं परम् ।
येन स्वैरपि मन्यन्ते जीवन्तोऽपि मृता इव ॥१०३॥

दुर्गति, प्राणियों का अपमान करने वाला बड़ा भारी दुःख है जिससे अपने जनों से जीता हुआ भी मनुष्य मरे की तरह समझा जाता है ॥ १०३ ॥

दैन्यस्य पात्रतामेति पराभूतेः परं पदम् ।
विपदामाश्रयः शश्वद्दौर्गत्यकलुषीकृतः॥१०४॥

निरन्तर दुर्गति से पीड़ित मनुष्य, दैन्य का पात्र तथा पराभव का स्थान और विपत्तियों का आश्रय बन जाता है ॥ १०४ ॥

लज्जन्ते बान्धवास्तेन सम्बन्धं गोपयन्ति च ।
मित्राण्यमित्रतां यान्ति यस्य न स्युः कपर्दकाः ॥१०५॥

जिसके पास कौड़ी नहीं है उसके बन्धु उससे लजाते हैं सामने नहीं आते, और अपने सम्बन्ध को छिपाते हैं एवं मित्र अपने मित्रभाव से हट जाते हैं ॥ १०५ ॥

मूर्तं लाघवमेवैतदपायानामिदं गृहम् ।
पर्यायो मरणस्यायं निर्धनत्वं शरीरिणाम् ॥१०६॥

प्राणियों की निर्धनता ही लघुता की मूर्ति है एवं विपत्तियों का घर है और मरण का दूसरा नाम है ॥ १०६ ॥

अजाधूलिरिव त्रस्तैर्मार्जनीरेणुवज्जनैः ।
दीपखद्योतच्छायेव त्यज्यते निर्धनो जनः ॥१०७॥

बकरी की धूलि की तरह, झाड़ू की धूल तरह और दीप एवं जुगुनू की छाया की तरह घबड़ाये मनुष्यों से निर्धन छोड़ दिया जाता है ॥ १०७ ॥

शौचावशिष्टयाप्यस्ति किञ्चित्कार्यं क्वचिन्मृदा ।
निर्धनेन जनेनैव न तु किंचित्प्रयोजनम् ॥१०८॥

पाखाने से आकर हाथ धोने से बची मिट्टी से भी कहीं कुछ कार्य हो जाता है परन्तु निर्धन मनुष्य से कोई प्रयोजन नहीं सिद्ध होता ॥ १०८ ॥

अधनो दातुकामोऽपि संप्राप्तो धनिनां गृहम् ।
मन्यते याचकोऽयं धिग्दारिद्र्यं खलु देहिनाम् ॥१०९॥

दरिद्र देने की इच्छा से भी यदि धनियों के घर जाय तो "यह याचक है" ऐसा माना जाता है। प्राणियों की दरिद्रता को धिक्कार है ॥ १०९ ॥

अतो वित्तापहारं विदधतो यदि मे मृत्युः स्यात्तथापि शोभनम् ।

उक्तं च—स्ववित्तहरणं दृष्ट्वा यो हि रक्षत्यसून्नरः ।
पितरोऽपि न गृह्णन्ति तद्दत्तं सलिलाञ्जलिम् ॥११०॥

इसलिये धन का अपहरण करने में मेरी मृत्यु भी हो जाय तो अच्छा ही है। कहा भी है—

अपने धन को हरण होते देखकर भी जो प्राणों की रक्षा करता है इसके दिये हुये जल को पितर लोग ग्रहण नहीं करते ॥ ११० ॥

तथा च—गवार्थे ब्राह्मणार्थे च स्त्रीवित्तहरणे तथा ।
प्राणांस्त्यजति यो युद्धे तस्य लोकाः सनातनाः ॥१११॥

और भी—गाय, और ब्राह्मण के लिये तथा स्त्री एवं धन के हरण में और युद्ध में जो प्राणों को छोड़ता है उसको सनातन लोक मिलते हैं ॥ १११ ॥

एवं निश्चित्य रात्रौ तत्र गत्वा निद्रावशमुपागतस्य पेटायां मया छिद्रं कृतं यावत्, तावत्प्रबुद्धो दुष्टतापसः। ततश्च जर्जरवंशप्रहारेण शिरसि ताडितः कथंचिदायुःशेषतया निर्गतोहऽम्, न मृतश्च। उक्तं च—

प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यो
देवोऽपि तं लङ्घयितुं न शक्तः
तस्मान्न शोचामि न विस्मयो मे
यदस्मदीयं न हि तत्परेषाम् ॥११२॥

इस प्रकार निश्चय कर रात में वहाँ जाकर सोये हुये उसकी पेटारी में छेद किया तब तक वह दुष्ट तपस्वी जाग गया और फटे हुये बाँस से शिर पर मारा। किसी तरह आयु के रहने के कारण मैं भग आया मरा नहीं। कहा भी है—

मनुष्य मिलने वाले धन को पाता है देवता भी उसका उल्लंघन नहीं कर सकती। इसलिये न मुझे उसका शोक है न विस्मय, क्योंकि जो हमारा है वह दूसरे का हो नहीं सकता ॥ ११२ ॥

काककूर्मौ पृच्छतः—'कथमेतत्।' हिरण्यक आह—

कौवे तथा कछुये ने पूछा—यह कैसे ? हिरण्यक बोला—

कथा चतुर्थी

'अस्ति कस्मिंश्चिन्नगरे सागरदत्तो नाम वणिक्। तत्सूनुना रूपकशतेन विक्रीयमाणं पुस्तकं गृहीतम्। तस्मिंश्च लिखितमस्ति—

प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यो
देवोऽपि तं लङ्घयितुं न शक्तः।
तस्मान्न शोचामि न विस्मयो मे
यदस्मदीयं न हि तत्परेषाम् ॥ ११३ ॥

किसी नगरमें सागर-दत्तनामवाला बनियां है । उसके लड़केने सौ रुपया में बेची जाती हुई किसी पुस्तकको खरीदा । उसमें लिखा था—

मनुष्य पाने योग्य अर्थ को जरूर पाता है, उसे देवता भी नहीं रोक सकते, इसलिये न मिलने पर मुझे शौच नहीं और मिलजाने पर अश्चर्य नहीं क्योंकि जोमेरा है वह दूसरे का नहीं ॥ ११३ ॥

तद् दृष्ट्वा सागरदत्तेन तनुजः पृष्टः—'पुत्र ! कियता मूल्येनैतत्पुस्तकं गृहीतम् ।' सोऽब्रवीत्—'रूप्यकशतेन ।' तच्छ्रुत्वा सागरदत्तोऽब्रवीत्—'धिङ् मूर्ख ! त्वं लिखितैकश्लोकं रूप्यकशतेन यद् गृह्णासि, एतया बुद्ध्या कथं द्रव्योपार्जनं करिष्यसि । तदद्यप्रभृति त्वया मे गृहे न प्रवेष्टव्यम् ।' एवं निर्भर्त्स्य गृहान्निःसारितः । स च तेन निर्वेदेन विप्रकृष्टं देशान्तरं गत्वा किमपि नगरमासाद्यावस्थितः । अथ कतिपयदिवसैस्तन्नगरनिवासिना केनचिदसौ पृष्टः—'कुतो भवानागतः । किंनामधेयो वा' इति । असावब्रवीत्—प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः ।' अथान्येनापि पृष्टेनानेन तथैवोत्तरं दत्तम् । एवं च तस्य नगरस्य मध्ये प्राप्तव्यमर्थ इति तस्य प्रसिद्धं नाम जातम् । अथ राजकन्या चन्द्रवती नामाभिनवरूपयौवनसंपन्ना सखीद्वितीयैकस्मिन्महोत्सवदिवसे नगरं निरीक्षमाणास्ति । तत्रैव च कश्चिद्राजपुत्रोऽतीव रूपसंपन्नो मनोरमश्च कथमपि तस्या दृष्टिगोचरं गतः । तद्दर्शनसमकालमेव कुसुमबाणहतया तया निजसख्यभिहिता—'सखि ! यथा किलानेन सह समागमो भवति तथाद्य त्वया यतितव्यम् ।' एवं श्रुत्वा सा सखी तत्सकाशं गत्वा शीघ्रमब्रवीत्—यदहं चन्द्रवत्या तवान्तिकं प्रेषिता । भणितं च त्वां प्रति तया "यन्मम त्वद्दर्शनान्मनोभवेन पश्चिमावस्था कृता । तद्यदि शीघ्रमेव मदन्तिके न समेष्यसि तदा मे मरणं शरणम् ।" इति श्रुत्वा तेनाभिहितम्—'यदवश्यं मया तत्रागन्तव्यं तत्कथय केनोपायेन प्रवेष्टव्यम् ।' अथ सख्याभिहितम्—'रात्रौ सौधावलम्बितया दृढवरत्रया त्वया तत्रा-

रोढव्यम् ।' सोऽब्रवीत्—यद्येवं निश्चयो भवत्यास्तदहमेवं करिष्यामि ।' इति निश्चित्य सखी चन्द्रवतीसकाशं गता । अथागतायां रजन्यां स राजपुत्रः स्वचेतसा व्यचिन्तयत्—'अहो ! महदकृत्यमेतत् । उक्तं च—

यह देखकर सागरदत्तने अपने लड़के से पूछा—'पुत्र, कितने मूल्यसे इस पुस्तक को खरीदे हो ? वह बोला—सौ रुपये में, यह सुनकर सागरदत्त बोला—ऐ मूर्ख ? तुझे धिक्कार है, जोकि लिखे हुए एक श्लोक को सौ रुपये में खरीदते हो, ऐसी बुद्धिसे द्रव्योपार्जन कैसे करोगे ? इसलिये आजसे लेकर तुम मेरे घर में नहीं आना । इस तरह उसको झिड़क कर घरसे निकाल दिया । वह उस दुःखसे बहुतदूर किसी देश में जाकर वहाँ किसी नगर में ठहर गया । अनन्तर कुछ दिनोंके बाद उस नगर के रहने वाले किसी ने उससे पूछा—'आप कहां से आए हो, आपका क्या नाम है' । वह बोला—'मनुष्य पाने योग्य अर्थ को जरूर पाता है' । इसी तरह दूसरों से भी पूछे जाने पर उसने उसी तरह उत्तर दिया । इस तरह उस नगर में उसका 'प्राप्तव्यमर्थ यही नाम प्रसिद्ध होगया । इसके बाद चन्द्रावती नाम की एक राजा की लड़की जोकि मनोहर रूप तथा पूर्ण युवावस्था को प्राप्त अपनी सखिओं के साथ किसी महोत्सव के दिन नगर को देख रही थीं । वहीं पर अत्यन्त सुन्दर, तथा मनोहर कोई राजा का लड़का उसके देखनेमें आया । उसके देखनेके साथही उसने कामातुर होकर सखी से कहा ! हे सखि ! जिस तरह आज इससे समागम हो वैसा कोई प्रयत्न करना । ऐसा सुनकर वह सखी उसके यहाँ जाकर शीघ्र बोली, चन्द्रावतीने मुझे तेरे पास भेजा है और तुम्हारे प्रति कहा है कि तुझे देखने से कामदेवने मेरी अन्तिम दशा करदी है । इसलिये यदि तुम, शीघ्र मेरे पास नहीं आओगे तो मेरा मरनाही निश्चित है । यह सुनकर उसने कहा–'यदि मैं वहाँ आऊँगा तो बताओ किस उपायसे मैं प्रवेश कर सकूँगा' । इसके बाद सखी ने कहा 'रातमें कोठेसे लटकाई हुई मजबूत रस्सी को पकड़ कर वहाँ चढ़ जाना' । 'यदि आपका ऐसा निश्चय है तो मैं ऐसा ही करूँगा । ऐसा निश्चय कर सखी चन्द्रावती के पास गई । इस के बाद रात

भर वह राजा का लड़का अपने मन में विचार करने लगा 'अहो' यह बड़ा खराब काम है। कहा है—

गुरोः सुतां मित्रभार्यां स्वामिसेवकगेहिनीम्।
यो गच्छति पुमांल्लोके तमाहुर्ब्रह्मघातिनम् ॥ ११४ ॥

जो पुरुष गुरु की लड़की, मित्र की स्त्री, स्वामी और सेवक की स्त्री के साथ व्यभिचार करता है उसे संसार में ब्रह्मघाती कहते हैं ॥ ११४ ॥

अपरं च—अयशः प्राप्यते येन येन चापगतिर्भवेत्।
स्वर्गाच्च भ्रश्यते येन तत्कर्म न समाचरेत्' ॥ ११५ ॥

और भी—पुरुष को चाहिये कि जिसके करने से अकीर्ति होती है, जिससे खराब गति होती है और जिससे स्वर्ग से पतन होता है उस कर्म को न करे ॥ ११५ ॥

इति सम्यग्विचार्य तत्सकाशं न जगाम। अथ प्राप्तव्यमर्थः पर्यटन्धवलगृहपार्श्वे रात्राववलम्बितवरत्रां दृष्ट्वा कौतुकाविष्टहृदयस्तामालम्ब्याधिरूढः। तया च राजपुत्र्या स एवायमित्याश्वस्तचित्तया स्नानखादनपानाच्छादनादिना संमान्य तेन सह शयनतलमाश्रितया तदङ्गसंस्पर्शसंजातहर्षरोमाञ्चितगात्रयोक्तम्—'युष्मद्दर्शनमात्रानुरक्तया मयात्मा प्रदत्तोऽयम्। त्वद्वर्जमन्यो भर्ता मनस्यपि मे न भविष्यति' इति। तत्कस्मान्मया सह न ब्रवीषि।' सोऽब्रवीत्—प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः।' इत्युक्ते तयान्योऽयमिति मत्वा धवलगृहादुत्तार्य मुक्तः स तु खण्डदेवकुले गत्वा सुप्तः। अथ तत्र कयाचित्स्वैरिण्या दत्तसंकेतको यावद्दण्डपाशकः प्राप्तः, तावदसौ पूर्वसुप्तस्तेन दृष्टो रहस्यसंरक्षणार्थमभिहितश्च—'को भवान्'। सोऽब्रवीत्—'प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः।' इति श्रुत्वा दण्डपाशकेनाभिहितम् 'यच्छून्यं देवगृहमिदम्। तदत्र मदीयस्थाने गत्वा स्वपिहि।' तथा प्रतिपद्य स मतिविपर्यासादन्यशयने सुप्तः। अथ तस्य रक्षकस्य कन्या विनयवती नाम रूपयौवनसंपन्ना कस्यापि पुरुषस्यानुरक्ता

संकेतं दत्त्वा तत्र शयने सुप्तासीत्। अथ सा तमायातं दृष्ट्वा स एवायमस्मद्वल्लभ इति रात्रौ घनतरान्धकारव्यामोहितोत्थाय भोजनाच्छादनादिक्रियां कारयित्वा गान्धर्वविवाहेनात्मानं विवाहयित्वा तेन समं शयने स्थिता विकसितवदनकमला तमाह—'किमद्यापि मया सह विश्रब्धं भवान्न ब्रवीति।' सोऽब्रवीत्—'प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः।' इति श्रुत्वा तया चिन्तितम्—'यत्कार्यमसमीक्षितं क्रियते तस्येदृक्फलविपाको भवति' इति। एवं विमृश्य सविषादया तया निःसारितोऽसौ। स च यावद्वीथीमार्गेण गच्छति तावदन्यविषयवासी वरकीर्तिर्नाम वरो महता वाद्यशब्देनागच्छति। प्राप्तव्यमर्थोऽपि तैः समं गन्तुमारब्धः। अथ यावत्प्रत्यासन्ने लग्नसमये राजमार्गासन्नश्रेष्ठिगृहद्वारे रचितमण्डपवेदिकायां कृतकौतुकमङ्गलवेशा वणिक्सुतास्ति' तावन्मदमत्तो हस्त्यारोहकं हत्वा प्रणश्यज्जनकोलाहलेन लोकमाकुलयँस्तमेवोद्देशं प्राप्तः। तं च दृष्ट्वा सर्वे वरानुयायिनो वरेण सह प्रणश्य दिशो जग्मुः। अथास्मिन्नवसरे भयतरललोचनामेकाकिनीं कन्यामवलोक्य 'मा भैषीः। अहं परित्राता' इति सुधीरं स्थिरीकृत्य दक्षिणपाणौ संगृह्य महासाहसिकतया प्राप्तव्यमर्थः परुषवाक्यैर्हस्तिनं निर्भर्त्सितवान्। ततः कथमपि दैवयोगादपयाते हस्तिनि ससुहृद्बान्धवेनातिक्रान्तलग्नसमये वरकीर्तिनागत्य तावत्तां कन्यामन्यहस्तगतां दृष्ट्वाभिहितम्। 'भोः श्वशुर! विरुद्धमिदं त्वयानुष्ठितं यन्मह्यं प्रदाय कन्यान्यस्मै प्रदत्ता' इति। सोऽब्रवीत्—'भोः! अहमपि हस्तिभयपलायितो भवद्भिः सहायातो न जाने किमिदं वृत्तम्।' इत्यभिधाय दुहितरं प्रष्टुमारब्धः—'वत्से! न त्वया सुन्दरं कृतम्। तत्कथ्यतां कोऽयं वृत्तान्तः।' साब्रवीत्—'यदहमनेन प्राणसंशयाद्रक्षिता, तदेनं मुक्त्वा मम जीवन्त्या नान्यः पाणिं ग्रहीष्यति' इति। अनेन वार्ताव्यतिकरेण रजनी व्युष्टा। अथ प्रातस्तत्र संजाते महाजनसमवाये वार्ताव्यतिकरं श्रुत्वा राजदुहिता तमुद्देशमागता। कर्णपरम्परया श्रुत्वा दण्डपाश-

कसुतापि तत्रैवागता । अथ तं महाजनसमवायं श्रुत्वा राजापि तत्रैवाजगाम । —प्राप्तव्यमर्थं प्राह च—'भोः ! विश्रब्धं कथय, कीदृशोऽसौ वृत्तान्तः । अथ सोऽब्रवीत्—'प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः' इति । राजकन्या स्मृत्वा प्राह—'देवोऽपि तं लङ्घयितुं न शक्तः' इति । ततो दण्डपाशकसुताब्रवीत्—'तस्मान्न शोचामि न विस्मयो मे, इति । तमखिललोकवृत्तान्तमाकर्ण्य वणिक्सुताब्रवीत्—'यदस्मदीयं न हि तत्परेषाम्' इति । ततोऽभयदानं दत्त्वा राजा पृथक्पृथग्वृत्तान्ताञ्ज्ञात्वावगततत्त्वस्तस्मै प्राप्तव्यमर्थाय स्वदुहितरं सबहुमानं ग्रामसहस्रेण समं सर्वालङ्कारपरिवारयुतां दत्त्वा त्वं मे पुत्रोऽसीति नगरविदितं तं यौवराज्येऽभिषिक्तवान् । दण्डपाशकेनापि स्वदुहिता स्वशक्त्या वस्त्रदानादिना संभाव्य प्राप्तव्यमर्थाय प्रदत्ता । अथ प्राप्तव्यमर्थेनापि स्वीयपितृमातरौ समस्तकुटुम्बावृतौ तस्मिन्नगरे सम्मानपुरःसरं समानीतौ । अथ सोऽपि स्वगोत्रेण सह विविधभोगानुपभुञ्जानः सुखेनावस्थितः । अतोऽहं ब्रवीमि—'प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः' इति । तदेतत्सकलं सुखदुःखमनुभूय परं विषादमुपागतोऽनेन मित्रेण त्वत्सकाशमानीतः । तदेतन्मे वैराग्यकारणम् ।'

मन्थरक आह—'भद्र ! भवति सुहृदयमसन्दिग्धं, यः क्षुत्क्षामोऽपि शत्रुभूतं त्वां भक्ष्यस्थाने स्थितमेवं पृष्ठमारोप्यानयति न मार्गेऽपि भक्षयति । उक्तं च यतः—

इस तरह अच्छीतरह सोंच समझ कर उसके पास नहीं गया । इसके बाद 'प्राप्तव्यमर्थ' घूमता हुआ रात में उजियारे मकान के पास लटकती हुई रस्सी को देखकर कौतूहल पूर्ण हृदय होकर उसे पकड़ कर चढ़ गया । उस राजपुत्री ने 'यह वही है' इस प्रकार विश्वस्त चित्तहोकर स्नान, भोजन, जलपान, आच्छादन, आदि से सम्मानित कर उसके साथ पलंग पर बैठी और उसके शरीरस्पर्श से रोमाञ्चित शरीर होकर बोली—'आपके दर्शनमात्र से अनुरक्त होकर मैंने अपने को दे दिया । आपको छोड़कर और दूसरा पति मेरे मन में भी नहीं होगा,

सो मुझसे क्यों नहीं बोलते हो ? वह बोला—'मनुष्य पाने योग्य अर्थ को पाता है।' ऐसा कहने पर उसने यह दूसरा है ऐसा समझ कर उज्वल मकान से उतार कर छोड़ दिया। वह भी टूटे देवालय में जाकर सो गया। इसके बाद वहाँ किसी व्यभिचारिणी से बुलाया गया दण्डपाशक जबतक वहाँ आया तब तक पहले से सोए हुए उसे देख कर अपने रहस्य को छिपाने के लिये उससे बोला—'आप कौन हैं। वह बोला—'मनुष्य पाने योग्य अर्थ को पाता है।' यह सुन कर दण्डपाशक ने कहा—'यह देवालय सूना है इसलिये तू यहाँ मेरे स्थान पर सो जा। ऐसा कहने पर बुद्धि के विपरीत होने के कारण वह दूसरी शय्या पर सो गया। अनन्तर विनयवती नामवाली रूप और यौवन से युक्त किसी रक्षक की लड़की किसी को संकेत देकर उसी शय्या पर सोई थी। अनन्तर वह उसे आया देखकर 'यही वह मेरा प्रिय है' इस तरह समझ कर उठी और रात में घने अन्धकारसे स्पष्ट कुछ न समझती हुई भोजन आच्छादन आदि करा कर गन्धर्व विवाह से उसके साथ अपना विवाह कर उसके साथ पलंग पर लेटी हुई प्रफुल्ल मुखकमल हो बोली—'अभी भी आप विश्वस्त होकर मेरे साथ क्यों नहीं बोल रहे हो ?' वह बोला—'मनुष्य पाने योग्य अर्थ को पाता है।' यह सुनकर उसने विचारा 'जो कार्य्य विना विचारे किया जाता है उसका ऐसा ही परिणाम होता है' ऐसा विचार कर विषाद युक्त चित्त होकर उसने उसे निकाल दिया। वह जब तक गली के रास्ते जा रहा था उसी समय दूसरे देशमें रहने वाला वरकीर्ति नामवाला कोई वर बहुत बाजे गाजे के साथ वहाँ आया। प्राप्तव्यमर्थ भी उसके साथ जाने लगा। इसके बाद लग्न के समीप होने पर सड़क के समीप सेठ के मकान के द्वारपर बने हुए मण्डप में वेदीपर वैवाहिक मंगलवेश बना कर बनियें की लड़की ज्योंही आकर बैठती है त्योंही मतवाला हाथी पीलवान को मारकर भागते हुए मनुष्यों के कोलाहल से लोगों को व्यग्र करता हुआ उसी स्थान पर आया। उसे देख वर के सब साथी, वर के साथ भाग कर इधर-उधर चले गये। अनन्तर इसी समय भय से चञ्चल नेत्रवाली

अकेली उस लड़की को देख 'मत डरो' मैं रक्षा करने वाला हूं, इस तरह बड़े गंभीर स्वर से कहते हुए दाहिने हाथ से उसे पकड़ कर अत्यन्त साहसी होने के कारण कठोर शब्दों से प्राप्तव्यमर्थ ने हाथी को झिड़का। इसके बाद भाग्य वश किसी तरह हाथी के भग जाने पर वरकीर्ति भाई बन्धुओं के साथ लग्न बीत जाने पर आया तब तक उस कन्या को दूसरे के हाथ में देखकर बोला—हे ससुर ! आपने यह विरुद्ध किया कि कन्या पहले मुझे देकर अनन्तर दूसरे को दे दी। वह बोला—मैं भी हाथी के डर से भाग गया था आप लोगों के साथ आया हूँ मुझे भी पता नहीं कि यह क्या हुआ। यह कह कर लड़की से पूछना आरम्भ किया—'बची, तुमने अच्छा नहीं किया। सो कहो क्या बात है।' वह बोली—इसने मुझे प्राण के संशय से बचाया है इसलिये जब तक मैं जीवित हूँ तब तक मेरा हाथ इन को छोड़ कर दूसरा कोई नहीं पकड़ सकता। इस तरह वार्तालाप होते रात बीत गई। इसके बाद सवेरे बड़े लोगों का समुदाय एकत्रित होने पर इस वार्ता को सुन कर राजा की लड़की भी उस स्थानपर आई। कर्णपरम्परा से सुनकर दण्डपाशक की लड़की भी वहीं आई। अनन्तर उस महाजनसमुदाय को एकत्रित हुआ सुनकर राजा भी वहीं आया। और प्राप्तव्यमर्थ से कहा—कि निडर होकर कहो क्या बात है। तब वह—"मनुष्य पाने योग्य अर्थको प्राप्त करता है"। ऐसा बोला। राजा की लड़की ने स्मरण कर—"देवता भी उसे नहीं रोक सकता"। ऐसा कहा। अनन्तर दण्डपाशक की लड़की—"इसलिये मैं न शोक करती हूँ और न मुझे विस्मय है"। ऐसा बोली। इस तरह सब लोक के वृत्तान्त को सुनकर बनिएं की लड़की भी बोली—"जो मेरा है वह दूसरे किसी का हो नहीं सकता"। असली बात समझ लेनेपर राजाने अभय दान दे कर अलग २ सबके समाचार जानकर उस प्राप्तव्यमर्थ को आदर पूर्वक एक हजार गाँव के साथ अलंकारों से परिपूर्ण अपनी लड़की देकर "तुम मेरे लड़के हो" इस तरह नगर में ढिंढोरा पिटवा कर युवराज पद पर अभिषिक्त किया। दण्डपाशक

ने भी अपनी शक्ति के अनुकूल वस्त्रादि से सत्कार कर अपने लड़की को प्राप्तव्यमर्थ को दे दिया। अनन्तर प्राप्तव्यमर्थ ने भी कुटुम्ब परिवार सहित अपने मातापिता को सन्मान के साथ उस नगर में बुलवाया।

वहभी अपने कुटुम्बियों के सहित नानाप्रकार के भोगों को भोगता हुआ सुख से रह ने लगा। इसलिये मैं कहता हूँ "मनुष्य पाने योग्य अर्थको पाता है"। इस तरह संपूर्ण सुख दुःख का अनुभव कर अत्यन्त खेद को प्राप्त मैं इस मित्र के द्वारा आप के पास लाया गया हूँ। बस, यही मेरे वैराग्य का कारण है मन्थरक बोला—'भद्र यह कौवा अवश्य मित्र है, क्योंकि क्षुधा से पीडित होता हुआ भी शत्रु रूप और भक्ष्य स्थानापन्न तुमको इस तरह पीठपर चढा कर लाता है, पर, रास्ते में भी नहीं खाता है। क्योंकि कहा है—

विकारं याति नो चित्तं वित्ते यस्य कदाचन।
मित्रं स्यात्सर्वकाले च कारयेन्मित्रमुत्तमम् ॥ ११६ ॥

धन में जिसका चित्त कभी विकृत नहीं होता और हर समय मित्र बना रहता है, ऐसे उत्तम मित्र को करना चाहिये ॥ ११६ ॥

विद्वद्भिः सुहृदामत्र चिन्हैरेतैरसंशयम्।
परीक्षाकरणं प्रोक्तं होमाग्नेरिव पण्डितैः ॥ ११७ ॥

विद्वानों को इन लक्षणों से निःसन्देह मित्रों की परीक्षा करनी चाहिये जिस तरह पण्डित लोग होमाग्नि की परीक्षा करते हैं ॥ ११७ ॥

तथा च—आपत्काले तु संप्राप्ते यन्मित्रं मित्रमेव तत्।
वृद्धिकाले तु संप्राप्ते दुर्जनोऽपि सुहृद्भवेत् ॥ ११८ ॥

और भी—आपत्ति के आने पर जो मित्र है वही सचा मित्र है, अभ्युदय के समय में तो दुर्जन भी मित्र हो जाता है ॥ ११८ ॥

तन्ममाप्यद्यास्य विषये विश्वासः समुत्पन्नो यतो नीतिविरुद्धेयं मैत्री मांसाशिभिर्वायसैः सह जलचराणाम्। अथवा साध्विदमुच्यते—

मित्रं कोऽपि न कस्यापि नितान्तं न च वैरकृत्।
दृश्यते मित्रविध्वस्तात्कार्याद्वैरीपरीक्षितः ॥ ११९ ॥

इसलिये आज मुझे भी इसके विषय में विश्वास उत्पन्न हुआ क्योंकि मांस खाने वाले कौवों के साथ जल जन्तुओं की मित्रता नीतिविरुद्ध है।

अथवा यह अच्छा कहा है—

कोई किसी का मित्र नहीं है और न अत्यन्त वैरी ही है। मित्र के द्वारा भी कार्य्य का नाश होने पर वह वैरी ही समझा जाता है॥ ११६॥

तत्स्वागतं भवतः। स्वगृहवदास्यतामत्र सरस्तीरे। यच्च वित्तनाशो विदेशवासश्च ते संजातस्तत्र विषये संतापो न कर्तव्यः। उक्तं च—

अभ्रच्छाया खलप्रीतिः सिद्धमन्नं च योषितः।
किंचित्कालोपभोग्यानि यौवनानि धनानि च॥ १२०॥

इसलिये आपका स्वागत हो। अपने घर की तरह इस सरोवर के तटपर रहिये। जो तुम्हारे धनका नाश हुआ और विदेश में वास हुआ उसके विषय में आप सन्ताप न करिये।

कहा है—बादलों की छाया, दुष्टों की प्रीति, पका अन्न, स्त्रियाँ, यौवन, और धन ये सब चीजें थोड़े समय तक ही भोगने योग्य हैं॥ १२०॥

अतएव विवेकिनो जितात्मानो धनस्पृहां न कुर्वन्ति।

उक्तं च—सुसञ्चितैर्जीवनवत्सुरक्षितैर्निजेऽपि देहे न नियोजितैः क्वचित्।
पुंसो यमान्तं व्रजतोऽपि निष्ठुरैरेतैर्धनैः पञ्चपदी न दीयते॥ १२१॥

इसीलिये जीतेन्द्रिय विचारशील मनुष्य धन की इच्छा नहीं करते हैं।

कहा भी है—कष्ट से बटोरे गये, प्राण के समान रक्षित, अपनी देह के लिये भी कभी उपयोग में नहीं लाये गये, निठुर ये धन यम लोक जाते हुए मनुष्य के पीछे पाँच पैर भी नहीं जाते॥ १२१॥

अन्यच्च—यथामिषं जले मत्स्यैर्भक्ष्यते श्वापदैर्भुवि।
आकाशे पक्षिभिश्चैव तथा सर्वत्र वित्तवान्॥ १२२॥

और भी—जिस तरह माँस को, जल में मछली, पृथ्वी में हिंसक जीव, और आकाश में पक्षी खाते हैं उसी तरह धनी सब जगह खाया जाता है॥ १२२॥

निर्दोषमपि वित्ताढ्यं दोषैर्योजयते नृपः ।
निर्धनः प्राप्तदोषोऽपि सर्वत्र निरुपद्रवः ॥ १२३ ॥

दोष रहित भी धनी को राजा दोष से दूषित करता है और निर्धनी दोष को प्राप्त होकर भी सदा निर्भय बना रहता है ॥ १२३ ॥

अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानां च रक्षणे ।
नाशे दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थान्कष्टसंश्रयान् ॥ १२४ ॥

धन के एकत्रित करने में दुःख, इकट्ठा किये की रक्षा करने में दुःख, नाश हो जाने पर दुःख, खर्च हो जाय तो दुःख इस तरह कष्ट के आश्रय वाले धन को धिक्कार है ॥ १२४ ॥

अर्थार्थी यानि कष्टानि मूढोऽयं सहते जनः ।
शतांशेनापि मोक्षार्थी तानि चेन्मोक्षमाप्नुयात् ॥ १२५ ॥

यह मूर्ख मनुष्य धन के निमित्त जितना कष्ट सहता है, मोक्ष की इच्छावाला उसका सौवाँ अंश परिश्रम करे तो वह मुक्त हो जाय ॥ १२५ ॥

अपरं विदेशवासजमपि वैराग्यं त्वया न कार्यम् । यतः—

को धीरस्य मनस्विनः स्वविषयः को वा विदेशः स्मृतो
यं देशं श्रयते तमेव कुरुते बाहुप्रतापार्जितम् ।
यद्दंष्ट्रानखलाङ्गुलप्रहरणैः सिंहो वनं गाहते
तस्मिन्नेव हतद्विपेन्द्ररुधिरैस्तृष्णां छिनत्त्यात्मनः ॥ १२६ ॥

और भी—विदेश के निवास करने से उत्पन्न हुआ वैराग्य भी तुमको न करना चाहिये—

क्योंकि—गंभीर बुद्धिमान् के लिये कौन अपना देश है ? जिस वन में सिंह प्रवेश करता है, उसी में नख, डाढ़ और पुच्छ रूप अपने शस्त्रों द्वारा मारे हुए हाथी के रुधिर से अपनी तृष्णा को दूर करता है ॥ १२६ ॥

अर्थहीनः परे देशे गतोऽपि प्रज्ञावान्भवति स कथञ्चिदपि न सीदति । उक्तं च—

कोऽतिभारः समर्थानां किंदूरं व्यवसायिनाम् ।
को विदेशः सविद्यानां कः परः प्रियवादिनाम् ॥१२७॥

धनहीन परदेश में जाने पर भी यदि वह बुद्धिमान हो तो किसी प्रकार दुखी नहीं होता है । कहा है—

शक्तिशाली पुरुष के लिये अतिभार (अधिक बोझ) क्या है ? व्यापारियों के लिये दूर क्या है ? विद्वानों के लिये विदेश क्या चीज़ है ? प्रियवादियों के लिये पराया कौन है ? ॥ १२७ ॥

तत्प्रज्ञानिधिर्भवान्न प्राकृतपुरुषतुल्यः । अथवा—

उत्साहसंपन्नमदीर्घसूत्रं क्रियाविधिज्ञं व्यसनेष्वसक्तम् ।
शूरं कृतज्ञं दृढसौहृदं च लक्ष्मीः स्वयं याति निवासहेतोः ॥१२८॥

इसलिये आप बुद्धि के सागर हैं, साधारण मनुष्य के तुल्य नहीं हैं । अथवा उत्साह से युक्त, आलस्यरहित, काम करने के मार्ग को जानने वाले व्यसन में न लगने वाले, शूर, कृतज्ञ, और सच्ची मित्रता वाले पुरुष को लक्ष्मी निवास के लिये स्वयं ढूँढा करती है ॥ १२८ ॥

अपरं, प्राप्तोऽप्यर्थः कर्मप्राप्त्या नश्यति । तदेतावन्ति दिनानि त्वदीयमासीत् । मुहूर्त्तमप्यनात्मीयं भोक्तुं न लभ्यते । स्वयमागतमपि विधिनापह्रियते ।

अर्थस्योपार्जनं कृत्वा नैव भोगं समश्नुते ।
अरण्यं महदासाद्य मूढः सोमिलको यथा ॥ १२९ ॥

और भी—प्राप्त हुआ धन कर्म वश से नष्ट हो जाता है । सो इतने दिन तक तुम्हारे निकट धन रहा । पराया धन कोई एक क्षण भी नहीं भोग सकता । स्वयं आया हुआ भी प्रारब्ध से हरण हो जाता है ।

धन उपार्जन करके भी नहीं भोगा जा सकता, जैसे महावन को प्राप्त होकर मूढ़ सोमिलक ॥ १२९ ॥

हिरण्यक आह—'कथमेतत् ।' स आह —

हिरण्यक ने कहा—"यह कैसी कथा है ? वह बोला—

कथा पञ्चमी

कस्मिंश्चिदधिष्ठाने सोमिलको नाम कौलिको वसति स्म । स चानेकविधपट्टरचनारञ्जितानि पार्थिवोचितानि वस्त्राण्युत्पादयति । परं तस्य चानेकविधपट्टरचनानिपुणस्यापि न भोजनाच्छादनाभ्यधिकं कथमप्यर्थमात्रं संपद्यते । अथान्ये तत्र सामान्यकौलिकाः स्थूलवस्त्रसंपादनविज्ञानिनो महर्द्धिसंपन्नाः । तानवलोक्य स स्वभार्यामाह—'प्रिये ! पश्यैतान्स्थूलपट्टकारकान्धनकनकसमृद्धान् । तद्धारणकं ममैतत्स्थानम् । तदन्यत्रोपार्जनाय गच्छामि ।' सा प्राह—'भोः प्रियतम ! मिथ्या प्रलपितमेतद्यदन्यत्र गतानां धनं भवति स्वस्थाने न भवतीति । उक्तं च—

किसी स्थान में सोमिलक नामका जुलाहा रहता था वह राजाओं के योग्य अनेक प्रकारके चित्र विचित्र वस्त्र सदा बनाया करता था, परन्तु अनेक प्रकार के कपड़ा बुनने में निपुण होने पर भी उसको आवश्यक अन्न वस्त्र से अधिक धन नहीं मिलता था और मोटा कपड़ा बुननेवाले दूसरे साधारण जुलाहे बड़े धनवान् हो गये थे, उनको देखकर वह अपनी स्त्री से बोला—प्रिये ! इन मोटा कपड़ा बनाने वालों को देखो जो धन सुवर्ण से सम्पन्न हो गये हैं । सो यह जगह हमारे योग्य नहीं हैं । इसलिये और जगह धन पैदा करने के निमित्त जाता हूँ , वह बोला—भो प्रियतम और स्थान में जाकर धन होता है, अपने स्थान में नहीं होता है, यह सब मिथ्या प्रलाप है । कहा है—

उत्पतन्ति यदाकाशे निपतन्ति महीतले ।
पक्षिणां तदपि प्राप्त्या नादत्तमुपतिष्ठति ।। १३० ।।

अन्न की प्राप्ति की आशा से जो आकाश में उड़ते हैं और पृथ्वी में गिरते हैं, उन पक्षियों को भी पूर्व जन्म में बिना दिये इस जन्म में वह प्राप्त नहीं होता है ।। १३० ।।

तथा च—न हि भवति यन्न भाव्यं भवति च भाव्यं विनापि यत्नेन ।
करतलगतमपि नश्यति यस्य तु भवितव्यता न भवति ॥१३१॥

और भी—जो होनहार नहीं है वह नहीं होता है, जो होनहार है वह यत्न के बिना ही हो जाता है, जो अपने अंश का नहीं है वह हाथ में प्राप्त हुआ भी नष्ट हो जाता है ॥ १३१ ॥

यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम् ।
तथा पुराकृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति ॥ १३२ ॥

जैसे हजारों गौओं में बछड़ा अपनी माता के ही पास पहुँचता है उसी प्रकार पूर्व किये कर्म उसके कर्त्ता को ही प्राप्त होते हैं ॥ १३२ ॥

शेते सह शयानेन गच्छन्तमनुगच्छति ।
नराणां प्राक्तनं कर्म तिष्ठेत्त्वथ सहात्मना ॥ १३३ ॥

मनुष्यों के पूर्व जन्म का कर्म सोये हुए के साथ सोता है चलते हुए के साथ चलता है, बहुत क्या, वह सदा कर्म करने वाले के साथ ही रहा करता है ॥१३३॥

यथा छायातपौ नित्यं सुसंबद्धौ परस्परम् ।
एवं कर्म च कर्ता च संश्लिष्टावितरेतरम् ॥ १३४ ॥

जैसे छाया और धूप परस्पर सम्बद्ध हैं इसी प्रकार कर्म और उसका कर्त्ता परस्पर मिले हुए हैं ॥ १३४ ॥

तस्मादत्रैव व्यवसायपरो भव ।' कौलिक आह—'प्रिये ! न सम्यगभिहितं भवत्या । व्यवसायं विना कर्म न फलति ।

उक्तञ्च—यथैकेन न हस्तेन तालिका संप्रपद्यते ।
तथोद्यमपरित्यक्तं न फलं कर्मणः स्मृतम् ॥ १३५ ॥

इस कारण यहीं रोजगार करो ' कौलिक बोला,—प्रिये ! तुमने अच्छा नहीं कहा । रोजगार के बिना कर्म का फल नहीं होता है ।

जैसे एक हाथ से ताली नहीं बजाई जा सकती, उसी तरह उद्योग किये बिना कर्म का फल नहीं होता ॥ १३५ ॥

पश्य कर्मवशात्प्राप्तं भोज्यकालेऽपि भोजनम् ।
हस्तोद्यमं विना वक्त्रे प्रविशेन्न कथंचन ।। १३६ ।।

देखो, भोजन के समय प्राप्त हुआ भी अन्न हाथ के उद्यम के बिना मुख में किसी प्रकार प्रवेश नहीं कर सकता ।। १३६ ।।

तथा च—

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीर्दैवं हि दैवमिति कापुरुषा वदन्ति ।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या यत्ने कृते यदि न सिद्धयति कोऽत्र दोषः ।। १३७ ।।

और भी—उद्योगी श्रेष्ठ पुरुष को लक्ष्मी प्राप्ति होती है, दैव दैव कायर पुरुष पुकारा करते हैं । दैव को पृथक् कर आत्मशक्ति से पुरुषार्थ करो । यत्न करने से भी यदि कार्य सिद्ध न हो तो यहाँ कौन दोष है इसका विचार करना चाहिये ।।१३७।।

तथा च—उद्यमेन हि सिद्धयन्ति कार्याणि न मनोरथैः ।
नहि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः ।। १३८ ।।

और भी—कार्य उद्योग से सिद्ध होते हैं । मनोरथों से नहीं । सोए हुये सिंह के मुख में मृग प्रवेश नहीं करते ।। १३८ ।।

उद्यमेन विना राजन्न सिद्धयन्ति मनोरथाः ।
कातरा इति जल्पन्ति यद्भाव्यं तद्भविष्यति ।। १३९ ।।

हे राजन् ! उद्योग के बिना मनोरथ सिद्ध नहीं होते हैं । जो होनहार है वह होगा, यह कायर लोग कहा करते हैं ।। १४६ ।।

स्वशक्त्या कुर्वतः कर्म न चेत्सिद्धिं प्रयच्छति ।
नोपालभ्यः पुमांस्तत्र दैवान्तरितपौरुषः ।। १४० ।।

जो कर्म अपनी शक्ति से करने पर भी सिद्ध न हो उसमें पुरुष तिरस्कार का पात्र नहीं होता, इसलिये कि उसके पुरुषार्थ में उसी का दैव बाधक हो जाता है ।। १४० ।।

तन्मयावश्यं देशान्तरं गन्तव्यम् ।' इति निश्चित्य वर्धमानपुरं गतः । तत्र च वर्षत्रयं स्थित्वा सुवर्णशतत्रयोपार्जनं कृत्वा भूयः स्वगृहं प्रस्थितः । अथार्धपथे गच्छतस्तस्य कदाचिदटव्यां पर्यटतो भगवान्रविरस्तमुपागतः । तदासौ व्यालभयात्स्थूलतरवटस्कन्धमारुह्य यावत्प्रसुप्तस्तावन्निशीथे स्वप्ने द्वौ पुरुषौ रौद्राकारौ परस्परं प्रजल्पन्तावश्रृणोत् । तत्रैक आह—'भोः कर्त्तः ! त्वं किं सम्यङ् न वेत्सि यदस्य सोमिलकस्य भोजनाच्छादनाभ्यधिका समृद्धिर्नास्ति । तत्किं त्वयास्य सुवर्णशतत्रयं प्रदत्तम् ।' स आह—'भोः कर्मन् ! मयावश्यं दातव्यं व्यवसायिनाम् । तत्र च तस्य परिणतिस्त्वदायत्ता इति । अथ यावदसौ कौलिकः प्रबुद्धः सुवर्णग्रन्थिमवलोकयति तावद्रिक्तं पश्यति । ततः साक्षेपं चिन्तयामास—'अहो ! किमेतत् महता कष्टेनोपार्जितं वित्तं हेलया क्वापि गतम् । तद्व्यर्थश्रमोऽकिंचनः कथं स्वपत्न्या मित्राणां च मुखं दर्शयिष्यामि ।' इति निश्चित्य तदेव पत्तनं गतः । तत्र च वर्षमात्रेणापि सुवर्णशतपञ्चकमुपार्ज्य भूयोऽपि स्वस्थानं प्रति प्रस्थितः । यावदर्धपथे भूयोऽटवीगतस्य भगवान्भानुरस्तं जगाम । अथ सुवर्णनाशभयात्सुश्रान्तोऽपि न विश्राम्यति । केवलं कृतगृहोत्कण्ठः सत्वरं व्रजति । अत्रान्तरे द्वौ पुरुषौ तादृशौ समागच्छन्तौ जल्पन्तौ चाश्रृणोत् । तत्रैकः आह—'भोः कर्तः ! किं त्वयैतस्य सुवर्णशतपञ्चकं प्रदत्तम् । तत्किं त्वं न वेत्सि, यद्भोजनाच्छादनाभ्यधिकमस्य किंचिन्नास्ति ।' स आह—'भोः कर्मन् ! मयावश्यं देयं व्यवसायिनाम् । तस्य परिणामस्त्वदायत्तः । तत्किं मामुपालम्भयसि ।' तच्छ्रुत्वा सोमिलको यावद्ग्रन्थिमवलोकयति तावत्सुवर्णं नास्ति । ततः परं दुःखमापन्नो व्यचिन्तयत्—'अहो ! किं मम धनरहितस्य जीवितेन । तदत्र वटवृक्ष आत्मानमुद्बध्य प्राणांस्त्यजामि ।' एवं निश्चित्य दर्भमयीं रज्जुं विधाय स्वकण्ठे पाशं नियोज्य शाखायामात्मानं निबध्य यावत्प्रक्षिपति तावदेकः पुमानाकाशस्थ एवेदमाह—'भो ! भोः ! सोमिलक ! मैवं साहसं कुरु । अहं ते वित्ताप-

हारकः। न ते भोजनाच्छादनाभ्यधिकां वराटिकामपि सहामि। तद्गच्छ स्वगृहं प्रति। अन्यच्च भवदीयसाहसेनाहं तुष्टः। यथा मे न स्याद्व्यर्थदर्शनम्, तत्प्रार्थ्यतामभीष्टो वरः कश्चित्।' सोमिलक आह—'यद्येवं तद्देहि मे प्रभूतं धनम्।', स आह—भोः! किं करिष्यसि भोगरहितेन धनेन यतस्तव भोजनाच्छादनादभ्यधिका प्राप्तिरपि नास्ति।

उक्तं च—किं तया क्रियते लक्ष्म्या या वधूरिव केवला।
या च वेश्येव सामान्या पथिकैरुपभुज्यते॥ १४१॥

इसलिये मैंने अवश्य ही देशान्तर जाना चाहिये। यह निश्चय कर वर्द्धमानपुर गया। वहाँ तीन बरस रह कर तीन सौ असर्फी पैदा कर फिर अपने घर आया। उसके आधे मार्ग में आते हुये एक समय बन में चलते चलते भगवान् सूर्य अस्त हो गये। तब यह सर्प के भय से एक मोटी बरगद की शाखा पर चढ़ कर सोया ही था कि आधीरात के समय स्वप्न में दो पुरुष भयङ्कर आकार वाले परस्पर बात करते हुए सुनाई पड़े उनमें एक बोला—हे कर्ता! क्या तूँ अच्छी तरह नहीं जानता कि, इस जुलाहे के भाग्य में भोजनाच्छादन से अधिक धन नहीं है, सो तूने कैसे इसको तीन सौ सुवर्ण मुद्रा (अशर्फियाँ) दीं" वह बोला—"भो कर्मन्! व्यापारियों को मैंने अवश्य देना चाहिये परन्तु उसका उपयोग तुम्हारे अधीन है"

उसके बाद जब तक यह कौलिक जागकर मोंहरों की उस गाँठको देखता है। तबतक खाली देखकर खेद से विचारने लगा। "अहो यह क्या है? बड़े कष्ट से उपार्जन किया धन हमारी लापरवाही से कहाँ चला गया। सो व्यर्थ श्रमवाला ग़रीब मैं किस प्रकार अपनी स्त्री और मित्रों को मुख दिखाऊँगा"। ऐसा निश्चय कर उसी नगर में गया। वहाँ एक वर्ष में पाँच सौ अशर्फियाँ पैदा कर फिर भी अपने स्थान को चला। ज्योंही वह आधे रास्ते में पहुँचा कि सूर्य डूब गये। तब सुवर्ण के नाश होने के भय से थका रहने पर भी उसने आराम नहीं किया बल्कि केवल घर की ओर मन लगाये हुए शीघ्रता से चलता ही

गया । तब सामने से आते हुए दो पुरुषों को बातचीत करते उसने सुना । उनमें से एक बोला—हे प्रभो ! तुमने क्यों इसको पाँच सौ सुवर्ण दिये ? क्या आप नहीं जानते हो कि भोजनाच्छादन से अधिक इसके भाग्य में नहीं है" । वह बोला—"भो कर्मन् ! उद्योगियों को मैं अवश्य देता हूँ । परन्तु उसका उपयोग तुम्हारे आधीन है इसलिये उसका उलहना तुम मुझे क्यों देते हो ।" यह सुन कर सोमिलक जबतक अपनी गाँठ देखता है उसमें उसको सुवर्ण नहीं मिलता है, तब तो परम दुःख को प्राप्त होकर विचारने लगा "अहो धनहीन मेरे जीवन से क्या लाभ ? सो इस वृक्ष में अपने को बाँधकर प्राणों का त्याग करता हूँ" ऐसा विचार कर कुश की रस्सी बनाकर अपने कण्ठ में पाश डाल शाखा में अपने को बाँध ज्योंही अपने को फेंकता है त्योंही आकाश में स्थित एक पुरुष यह बोला—भो भो सोमिलक ! इस प्रकार का साहस मत करो, मैं तेरे धन का हरण करने वाला हूँ । भोजनाच्छादन से अधिक एक कौड़ी भी तेरे पास रहने नहीं देता, सो अपने घर को जा, तुम्हारे साहस से मैं संतुष्ट हुआ हूँ । मेरा दर्शन व्यर्थ नहीं होता इसलिये कोई अभीष्ट वर मांग, सोमिलक बोला "—जो ऐसा है तो मुझको अधिक धन दो" वह बोला—"भोगरहित धन को लेकर क्या करेगा ? क्योंकि तुम्हारे भाग्य में भोजनाच्छादन से अधिक प्राप्ति नहीं लिखी है ।

कहा है—उस सम्पत्ति से क्या लाभ है जो पुत्रवधू (पतोहू) के समान भोग से रहित और जो वेश्या के समान राहियों से भोगी जाने वाली है" ॥१४१॥

सोमिलक आह—'यद्यपि तस्य धनस्य भोगो नास्ति, तथापि तद्भवतु । उक्तं च—

कृपणोऽप्यकुलीनोऽपि सज्जनैर्वर्जितः सदा ।
सेव्यते स नरो लोके यस्य स्याद्वित्तसञ्चयः ॥ १४२ ॥

सोमिलक बोला—"यद्यपि उसका भोग मेरे भाग्य में नहीं है तथापि धन तो रहे । कहा है—

कृपण (कंजूस) होने पर भी, दुष्ट कुल में उत्पन्न होने पर भी, सज्जनों से सदा तिरस्कृत होने पर भी, यदि उसके पास धन है तो वह मनुष्य संसार में सेवा स य समझा जाता है ॥१४२॥

तथाच—शिथिलौ च सुबद्धौ च पततः पततो न वा।
निरीक्षितौ मया भद्रे दश वर्षाणि पञ्च च' ॥ १४३ ॥

और भी—हे भद्रे ! शिथिल (ढीले पड़े हुए) परन्तु अच्छी तरह बन्धे हुए बैलों के अण्डकोषों को १५ वर्षों से देख रहा हूँ कि ये गिरते हैं या नहीं गिरते हैं ? ॥ १४३ ॥

पुरुष आह—'किमेतत्।' सोऽब्रवीत्—

पुरुष बोला—"यह कैसी कथा है ?" वह बोला—

कथा षष्ठी

कस्मिंश्चिदधिष्ठाने तीक्ष्णविषाणो नाम महावृषभः प्रतिवसति स्म। स च मदातिरेकात्परित्यक्तनिजयूथः शृङ्गाभ्यां नदीतटानि विदारयन्स्वेच्छया मरकतसदृशानि शष्पाणि भक्षयन्नरण्यचरो बभूव। अथ तत्रैव वने प्रलोभको नाम शृगालः प्रतिवसति स्म। स कदाचित्स्वभार्यया सह नदीतीरे सुखोपविष्टस्तिष्ठति। अत्रान्तरे स तीक्ष्णविषाणो जलार्थं तदेव पुलिनमवतीर्णः। ततश्च तस्य लम्बमानौ वृषणाववलोक्य शृगाल्या शृगालोऽभिहितः—'स्वामिन् ! पश्यास्य वृषभस्य मांसपिण्डौ लम्बमानौ यथा स्थितौ, तदेतौ क्षणेन प्रहरेण वा पतिष्यतः। एवं ज्ञात्वा भवता पृष्ठानुयायिना भाव्यम्।' शृगाल आह—'प्रिये ! न ज्ञायते कदाचिदेतयोः पतनं भविष्यति वा न वा। तत्किं वृथा श्रमाय मां नियोजयसि। अत्रस्थस्तावज्जलार्थमागतान्मूषकान्भक्षयिष्यामि समं त्वया, मार्गोऽयं यतस्तेषाम्। अपरं यदि त्वां मुक्त्वास्य तीक्ष्णविषाणस्य वृषभस्य पृष्ठे गमिष्यामि, तदागत्यान्यः कश्चिदेतत्स्थानं समाश्रयिष्यति। नैतद्युज्यते कर्तुम्। उक्तं च—

'यो ध्रुवाणि परित्यज्य अध्रुवाणि निषेवते।
ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति अध्रुवं नष्टमेव च' ॥ १४४ ॥

किसी स्थान में तीक्ष्णविषाण नाम का बड़ा बैल रहता था। वह मद की अधिकता से अपने समूह को छोड़कर सींगों से नदी के किनारों को खोदता और

मरकत मणि (पन्ना) के समान हरे हरे घास को खाता हुआ अपनी इच्छानुसार जंगल में चरने लगा। उसी जंगल में प्रलोभक नाम का एक सियार रहता था। वह किसी समय अपनी स्त्री के साथ नदी के किनारे सुख पूर्वक बैठा था। इसी समय तीक्ष्णविषाण जल के लिये उसी तट पर उतरा। तब उसके लटकते हुये अण्डकोषों को देखकर सियारिन ने सियार से कहा हे स्वामिन्! इस बैल के लटकते हुये मांसपिण्ड को देखो, यह क्षण भर में या एक पहर में गिर पड़ेगा। यह जानकर आपको इसके पीछे रहना चाहिये। सियार ने कहा— यह मालूम नहीं कि कभी यह गिरेगा या नहीं। सो क्यों मुझे व्यर्थश्रम में लगा रही हो। यहीं रहकर जल के निमित्त आये हुये चूहों को तेरे साथ में खाता रहूंगा। क्योंकि यह उनके आने जाने का मार्ग है। और भी यदि तुम्हें छोड़कर इस तीक्ष्णविषाण बैल का पृष्ठगामी बनूंगा तो अगत्या कोई दूसरा ही इस स्थान पर रहने लगेगा इसलिये यह करना ठीक नहीं। कहा भी है—

जो निश्चित वस्तु को छोड़कर अनिश्चित वस्तु का भरोसा करता है उसकी निश्चित वस्तु भी नष्ट हो जाती है अनिश्चित तो नष्ट ही है ॥१४४॥

शृगाल्याह—'भोः! कापुरुषस्त्वम्। यत्किंचित्प्राप्तं तेनैव सन्तोषं करोषि। उक्तं च—

सुपूरा स्यात्कुनदिका सुपूरो मूषिकाञ्जलिः।
सुसंतुष्टः कापुरुषः स्वल्पकेनापि तुष्यति॥ १४५॥

सियारिन ने कहा— अहो! तुम कायर पुरुष हो। जो कुछ पाते हो उसी से सन्तोष करते हो—

कहा है—छोटी नदी थोड़े ही जल से भर जाती है और चूहे की अञ्जली भी थोड़े ही अन्न से भर जाती है। कायर मनुष्य थोड़े ही में सन्तुष्ट हो जाते है॥१४५॥

तस्मात्पुरुषेण सदैवोत्साहवता भाव्यम्। उक्तं च—

यत्रोत्साहसमारम्भो यत्रालस्यविहीनता।
नयविक्रमसंयोगस्तत्र श्रीरचला ध्रुवम्॥ १४६॥

इस कारण पुरुष को सदा उत्साह युक्त रहना चाहिये।

कहा है—जहां उत्साह से कार्य का आरम्भ होता है, जहां आलस्य हीनता रहा करती है, जहां नीति और पराक्रम का सम्बन्ध रहा करता है। वहीं लक्ष्मी स्थिर रूप से निवास करती हैं॥ १४६॥

तद्दैवमिति संचिन्त्य त्यजेन्नोद्योगमात्मनः।
अनुयोगं विना तैलं तिलानां नोपजायते ॥ १४७॥

इस कारण दैव को समझकर (जो भाग्य में होगा ही वह होगा ऐसा जान कर) अपना उद्योग छोड़ना नही चाहिये। कोल्हू के सम्बन्ध के विना तिलो में से तेल नहीं निकलता है॥ १४७॥

अन्यच्च—यः स्तोकेनापि सन्तोषं कुरुते मन्दधीर्जनः।
तस्य भाग्यविहीनस्य दत्ता श्रीरपि मार्ज्यते॥ १४८॥

और भी—जो छोटी बुद्धिवाला मनुष्य थोड़े ही में सन्तोष करता है उस भाग्यहीन को, दूसरों की दी हुई लक्ष्मी भी नष्ट हो जाती है॥ १४८॥

यच्च त्वं वदसि, एतौ पतिष्यतो न वेति, तदप्ययुक्तम्।
उक्तं च—कृतनिश्चयिनो वन्द्यास्तुङ्गिमा न प्रशस्यते।
चातकः को वराकोऽयं यस्येन्द्रो वारिवाहकः॥ १४९॥

जो तुम कहते हो कि यह गिरेंगे या नहीं सो भी ठीक नहीं है कहा है—
जिनका संकल्प दृढ़ है, वे ही प्रशंसा के पात्र हैं, ऊँचाई अर्थात् ऊँचे वंश में उत्पन्न होना ही प्रशंसा का कारण नहीं है। बिचारे चातक की क्या हस्ती है, जिसके लिये साक्षात् इन्द्र मेघ का काम करता है॥ १४९॥

अपरं मूषकमांसस्य निर्विण्णाहम्। एतौ च मांसपिण्डौ पतनप्रायौ दृश्येते। तत्सर्वथा नान्यथा कर्तव्यम्' इति। अथासौ तदाकर्ण्य मूषकप्राप्तिस्थानं परित्यज्य तीक्ष्णविषाणस्य पृष्ठमन्वगच्छत्। अथवा साध्विदमुच्यते—

और भी चूहे का मांस खाते २ मैं ऊब गई हूं । और मांस पिण्ड गिरने ही वाला मालूम पड़ता है, इसलिये मैं जैसा कहती हूं उसके विपरीत कभी न करें । इसके बाद सियार इस बात को सुनकर चूहे के प्राप्त करने वाले स्थान को छोड़कर तीक्ष्ण विषाण के पीछे गया । अथवा ठीक ही कहा जाता है ।

तावत्स्यात्सर्वकृत्येषु पुरुषोऽत्र स्वयं प्रभुः ।
स्त्रीवाक्याङ्कुशविक्षुण्णो यावन्नो ह्रियते बलात् ॥ १५० ॥

मनुष्य तभी तक सब कामों में स्वतंत्र बना रहता है, जब तक वह बल पूर्वक स्त्री के वाक्य रूपी अङ्कुश के वश में नहीं किया जाता ॥१५०॥

अकृत्यं मन्यते कृत्यमगम्यं मन्यते सुगम् ।
अभक्ष्यं मन्यते भक्ष्यं स्त्रीवाक्यप्रेरितो नरः ॥ १५१ ॥

स्त्री के वाक्यों से प्रेरित हुआ मनुष्य अकार्य को कार्य, दुर्गम को सुगम तथा नहीं खाने योग्य को खाने योग्य समझता है ॥१५१॥

एवं स तस्य पृष्ठतः सभार्यः परिभ्रमंश्चिरकालमनयत् । न च तयोः पतनमभूत् । ततश्च निर्वेदात्पञ्चदशे वर्षे शृगालः स्वभार्यामाह—

शिथिलौ च सुबद्धौ च पततः पततो न वा ।
निरीक्षितौ मया भद्रे दश वर्षाणि पञ्च च ॥ १५२ ॥

तयोस्तत्पश्चादपि पातो न भविष्यति । तत्तदेव स्वस्थानं गच्छावः' । अतोऽहं ब्रवीमि—'शिथिलौ च सुबद्धौ च' इति ।

इस प्रकार उसके पीछे स्त्री सहित भ्रमण करते हुये उसने बहुत समय बिताया, परन्तु अण्डकोषों का पतन न हुआ । तब वैराग्य से पन्द्रहवें वर्ष अपनी स्त्री से बोला—शिथिल हैं, दृढ़ता से बधे हैं, गिरेंगे वा नहीं गिरेंगे मालूम नहीं भद्रे ! १५ वर्ष से मैं इनको बराबर देख रहा हूं ॥ १५२ ॥

इन दोनों का इसके बाद भी पतन न होगा । सो अपने उसी स्थान को चलें, इससे मैं कहता हूं । ये "शिथिल न गिरेंगे ।"

पुरुष आह—'यद्येवं तद्गच्छ भूयोऽपि वर्धमानपुरम् । तत्र द्वौ वणिक्पुत्रौ वसतः । एको गुप्तधनः, द्वितीय उपभुक्तधनः । ततस्तयोः स्वरूपं बुद्ध्वैकस्य वरः प्रार्थनीयः । यदि ते धनेन प्रयोजनमभक्षितेन, ततस्त्वामपि गुप्तधनं करोमि । अथवा दत्तभोग्येन धनेन ते प्रयोजनं तदुपभुक्तधनं करोमि ।' इति । एवमुक्त्वाऽदर्शनं गतः । सोमिलकोऽपि विस्मितमना भूयोऽपि वर्धमानपुरं गतः ।

अथ संध्यासमये श्रान्तः कथमपि तत्पुरं प्राप्तो गुप्तधनगृहं पृच्छन्कृच्छ्राल्लब्ध्वास्तमितसूर्ये प्रविष्टः । अथासौ भार्यापुत्रसमेतेन गुप्तधनेन निर्भर्त्स्यमानो हठाद् गृहं प्रविश्योपविष्टः । ततश्च भोजनवेलायां तस्यापि भक्तिवर्जितं किञ्चिदशनं दत्तम् । ततश्च भुक्त्वा तत्रैव यावत्सुप्तो निशीथे पश्यति तावत्तावपि द्वौ पुरुषौ परस्परं मन्त्रयतः । तत्रैक आह—'भोः ! कर्त्तः ! किं त्वयास्य गुप्तधनस्यान्योऽधिको व्ययो निर्मितो यत्सोमिलकस्यानेन भोजनं दत्तम् ? तदयुक्तं त्वया कृतम् ।' स आह—'भोः कर्मन् ! न ममात्र दोषः । मया पुरुषस्य लाभप्राप्तिर्दातव्या । तत्परिणतिः पुनस्त्वदायत्ता' इति । अथासौ यावदुत्तिष्ठति तावद् गुप्तधनो विषूचिकया खिद्यमानो रुजाभिभूतः क्षणं तिष्ठति । ततो द्वितीयेऽह्नि तद्दोषेण कृतोपवासः संजातः । सोमिलकोऽपि प्रभाते तद्गृहान्निष्क्रम्योपभुक्तधनगृहं गतः । तेनापि चाभ्युत्थानादिना सत्कृतो विहितभोजनाच्छादनसंमानस्तस्यैव गृहे भव्यशय्यामारुह्य सुष्वाप । ततश्च निशीथे यावत्पश्यति तावत्तावेव द्वौ पुरुषौ मिथो मन्त्रयतः । अथ तयोरेक आह—'भोः कर्त्तः ! अनेन सोमिलकस्योपकारं कुर्वता प्रभूतो व्ययः कृतः । तत्कथय कथमस्योद्धारकविधिर्भविष्यति । अनेन सर्वमेतद्व्यवहारकगृहात्समानीतम् ।' स आह—'भोः कर्मन् ! मम कृत्यमेतत् । परिणतिस्त्वदायत्ता' इति । अथ प्रभातसमये राजपुरुषो राजप्रसादजं वित्तमादाय समायात उपभुक्तधनाय

समर्पयामास । तद् दृष्ट्वा सोमिलकश्चिन्तयामास—सञ्चयरहितोऽपि वरमेष उपभुक्तधनः, नासौ कदर्यो गुप्तधनः । उक्तञ्च—

अग्निहोत्रफला वेदाः शीलवित्तफलं श्रुतम् ।
रतिपुत्रफला दारा दत्तभुक्तफलं धनम् ॥ १५३ ॥

पुरुष बोला—यदि ऐसा है तो वर्द्धमान पुर में जाओ वहां एक बनियां के दो पुत्र रहते हैं एक का नाम गुप्तधन और दूसरे का नाम उपभुक्तधन है उन दोनों का रङ्ग ढङ्ग देखकर पीछे एक से वर मांगना—केवल धन की रक्षा करना ही तेरा प्रयोजन होगा, उसके उपभोग से नहीं तो तुझे भी गुप्तधन कर दूँगा । अथवा दान और उपभोग में आने योग्य धन से तेरा प्रयोजन होगा तो तुझे भी उपभुक्त धन कर दूँगा । यह कह कर वह अन्तर्हित हुआ । सोमिलक आश्चर्ययुक्त होकर फिर वर्द्धमान पुर गया । सन्ध्या समय थका हुआ वह नगर में किसी प्रकार पहुँचा और गुप्तधन का घर पूछता हुआ बड़ी कठिनता से सूर्यास्त होने पर उसके घर पहुँचा । उसके बाद भाई पुत्र के सहित गुप्तधन से फटकारा गया भी वह हठ से उसके घर में प्रवेश कर बैठ गया । तब भोजन के समय उसको भी अनादर पूर्वक कुछ भोजन दे दिया उसके बाद यह भोजन कर ज्योंहीं सोता है त्योंहीं आधीरात में देखता है कि वे ही दोनों पुरुष आपस में बातें कर रहे हैं । तब उन में से एक बोला हे—प्रभो ! क्यों तुमने इस गुप्तधन को अधिक व्यय करने का अधिकार दिया । जो सोमिलक को इसने भोजन कराया यह तुमने ठीक नहीं किया वह बोला भो कर्मंठ ! इसमें मेरा दोष नहीं, मुझे तो पुरुष को उसके परिश्रम का फल देना है, उसका परिणाम तुम्हारे आधीन है । उसके बाद वह जब तक उठता है तब तक गुप्तधन विषूचिका (हैजा) रोग से पीड़ित होकर थोड़ी देर तक व्याकुल रहता है । अनन्तर दूसरे दिन उस दोष से उसने लंघन किया सोमिलक भी प्रातः काल उसके घर से निकला उपभुक्तधन के घर गया । उसने भी स्वागतादि क्रिया द्वारा

सोमिलक का सत्कार किया और भोजन वस्त्र द्वारा सम्मान किया। सोमिलक भी उसी के घर सुन्दर शय्या पर सो गया। उसके बाद आधी रात में देखता है कि वे ही दोनों पुरुष बातें कर रहे हैं। उन दोनों में एक बोला भो स्वामिन्! इसने सोमिलक का सत्कार करके बहुत व्यय किया सो कहो कैसे इस ऋण का शोध होगा क्योंकि इसने यह सब व्योपारी के घर से उधार लिया था। वह बोला भो कर्म्मन्। यह सब मेरा कर्तव्य था मैंने किया। परन्तु इसका परिणाम आपके आधीन हैं। तब प्रातः काल राजपुरुष ने राजा की ओर से पुरस्कार रूप धन लाकर उपभुक्त धन को समर्पण किया। यह देख कर वह सोमिलक विचारने लगा—"संचय से रहित यह उपभुक्त धन अच्छा है न कि वह कंजूस गुप्तधन। कहा है—

अग्निहोत्र यज्ञानुष्ठानादि वेद के फल हैं, सचरित्रता और धन शास्त्र का फल है, संभोग रूप सुख और पुत्र स्त्री का फल है, दान और भोग धन का फल है ॥ १५३ ॥

तद्विधाता मां दत्तभुक्तधनं करोतु। न कार्यं मे गुप्तधनेन।' ततः सोमिलको दत्तभुक्तधनः सञ्जातः। अतोऽहं ब्रवीमि—'अर्थस्योपार्जनं कृत्वा' इति। तद्भद्र हिरण्यक! एवं ज्ञात्वा धनविषये संतापो न कार्यः। अथ विद्यमानमपि धनं भोज्यवन्ध्यतया तदविद्यमानं मन्तव्यम्। उक्तं च—

गृहमध्यनिखातेन धनेन धनिनो यदि।
भवामः किं न तेनैव धनेन धनिनो वयम् ॥ १५४ ॥

इस लिए विधाता मुझको दत्तभुक्त धन करे। गुप्त धन से मेरा कुछ काम नहीं है। तब सोमिलक दत्तभुक्त धन हो गया। इससे मैं कहता हूँ—धन उत्पन्न करके भी उसको भोग नहीं सकता जैसे बड़े बन में प्राप्त होकर मूढ सोमिलक।

सो हे भद्र हिरण्यक! ऐसा जानकर धन के विषय में संताप मत करो विद्यमान भी धन जो भोगा नहीं जा सके उसको नहीं के बराबर मानना चाहिये। कहा है—घर में गाड़े हुए धन से ही यदि धनवान् होता हो तो उसी धन से हम क्यों न धनी गिने जाँय ॥ १५६ ॥

तथा च—उपार्जितानामर्थानां त्याग एव हि रक्षणम् ।
तडागोदरसंस्थानां परीवाह इवाम्भसाम् ॥ १५५ ॥

और भी—पैदा किए ही धन का त्याग ही उसकी रक्षा है। जैसे सरोवर के मध्य स्थित जल का निकालना ॥ १५५ ॥

दातव्यं भोक्तव्यं धनविषये संचयो न कर्तव्यः ।
पश्येह मधुकरीणां सञ्चितमर्थं हरन्त्यन्ये ॥ १५६ ॥

देना चाहिये, भोगना चाहिये, परन्तु धन का संचय न करना चाहिये देखो मधुमक्खियों का सञ्चित शहद अन्य जन हरण करते हैं ॥ १५६ ॥

अन्यच्च—दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य ।
यो न ददाति न भुंक्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥ १५७ ॥

और भी—दान, भोग और नाश, धन की ये तीन गतियाँ हैं, जो न देता है, न खाता है उसकी तीसरी गति होती है ॥ १५७ ॥

एवं ज्ञात्वा विवेकिना न स्थित्यर्थं वित्तोपार्जनं कर्तव्यम्, यतो दुःखाय तत् । उक्तं च—

धनादिकेषु विद्यन्ते येऽत्र मूर्खाः सुखाशया ।
तप्ता ग्रीष्मेण सेवन्ते शैत्यार्थं ते हुताशनम् ॥ १५८ ॥

ऐसा जानकर विचारवान् पुरुष ने संग्रह करने के निमित्त धन उपार्जन न करना चाहिये। क्योंकि वह दुःख का कारण होता है। कहा है—

जो मूर्ख धनादि में सुख की आशा बनाये रखते हैं, गर्मी से सन्तप्त वे शीतलता प्राप्त करने के लिये अग्नि की सेवा किया करते हैं ॥ १५८ ॥

सर्पाः पिबन्ति पवनं न च दुर्बलास्ते
शुष्कैस्तृणैर्वनगजा बलिनो भवन्ति ।
कन्दैः फलैर्मुनिवरा गमयन्ति कालं
संतोष एव पुरुषस्य परं निधानम् ॥ १५९ ॥

सर्प पवन पीते है, परन्तु वे दुर्बल नहीं होते, सूखे तृण खाकर ही वन में हाथी बली होते हैं, बड़े २ मुनि कन्द और फलों को खाकर ही समय को बिताते हैं इससे मालूम पड़ता है कि सन्तोष ही पुरुषों का बहुत बड़ा खजाना है ॥१५६ ॥

संतोषामृततृप्तानां यत्सुखं शान्तचेतसाम् ।
कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम् ॥ १६० ॥

सन्तोष रूपी अमृत से तृप्त हुए शान्त चित्त वालों को जो सुख मिलता है, वह धन के लोभ से इधर उधर चक्कर काटने वाले पुरुषों को कहाँ मिल सकता है ॥ १६० ॥

पीयूषमिव संतोषं पिबतां निर्वृतिः परा ।
दुःखं निरन्तरं पुंसामसंतोषवतां पुनः ॥ १६१ ॥

अमृत के समान सन्तोष को पान करने से परम शान्ति प्राप्त होती है। परन्तु असन्तोषी पुरुषों को निरन्तर दुःख ही हुआ करता है ॥ १६१ ॥

निरोधाच्चेतसोऽक्षाणि निरुद्धान्यखिलान्यपि ।
आच्छादिते रवौ मेघैराच्छन्नाः स्युर्गभस्तयः ॥ १६२ ॥

मन को वश में कर लेने पर सब इन्द्रियाँ अपने आपहीं वश में हो जाती हैं, जैसे मेघों द्वारा सूर्य्य के ढँक जाने पर उसकी सारी किरणें भी अपने आपही ढक जाती हैं ॥१६२ ॥

वाञ्छाविच्छेदनं प्राहुः स्वास्थ्यं शान्ता महर्षयः ।
वाञ्छा निवर्तते नार्थैः पिपासेवाग्निसेवनैः ॥ १६३ ॥

शान्त चित्तवाले महर्षि वासना के विच्छेद को ही सुख कहते हैं, अग्नि के सेवन से प्यास जैसे निवृत्त नहीं होती वैसे ही धन से वासना निवृत्त नहीं होती ॥ १६३ ॥

अनिन्द्यमपि निन्दन्ति स्तुवन्त्यस्तुत्यमुच्चकैः ।
स्वापतेयकृते मर्त्याः किं किं नाम न कुर्वते ॥ १६४ ॥

मनुष्य धन के निमित्त क्या २ नहीं करते—अनिन्दनीय की भी निन्दा करते हैं। स्तुति के अयोग्य की भी भली प्रकार स्तुति किया करते हैं ॥ १६४ ॥

धर्मार्थं यस्यवित्तेहा तस्यापि न शुभावहा ।
प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम् ॥ १६५ ॥

जिस मनुष्य को धर्म के निमित्त धन उपार्जन करना है उसकी वह इच्छा भी अच्छी नहीं है, क्योंकि कीचड़ में पैर देकर फिर उसके धोने की अपेक्षा दूर से उसका न छूना ही अच्छा है ॥ १६५ ॥

दानेन तुल्यो निधिरस्ति नान्यो
लोभाच्च नान्योऽस्ति रिपुः पृथिव्याम् ।
विभूषणं शीलसमं न चान्य-
त्संतोषतुल्यं धनमस्ति नान्यत् ॥ १६६ ॥

दान के तुल्य दूसरी निधि नहीं है, लोभ से बड़ा पृथ्वी में कोई शत्रु नहीं है । शील के समान दूसरा गहना नहीं है और संतोष के समान दूसरा धन नहीं है ॥ १६६ ॥

दारिद्र्यस्य पराभूतिर्यन्मानद्रविणाल्पता ।
जरद्गवधनः शर्वस्तथापि परमेश्वरः ॥ १६७ ॥

मानरूपी धन की कमी ही परम दरिद्रता है । शिवजी का धन एक बूढ़ा बैल है फिर भी वे परमेश्वर कहे जाते हैं ॥ १६७ ॥

सकृत्कन्दुकपातेन पतत्यार्यः पतन्नपि ।
तथा पतति मूर्खस्तु मृत्पिण्डपतनं यथा ॥ १६८ ॥

श्रेष्ठ मनुष्य गिरता हुआ भी गेंदे के समान (एक बार गिर कर फिर) उछलता है और मूर्ख तो ऐसा गिरता है कि जैसा मिट्टी का ढेला जो गिरकर फिर कभी नहीं उठता ॥ १६८ ॥

एवं ज्ञात्वा भद्र ! त्वया संतोषः कार्यः, इति मन्थरकवचनमाकर्ण्य वायस आह—'मन्थरको यदेवं वदति तत्त्वया चित्ते कर्तव्यम् । अथवा साध्विदमुच्यते—

सुलभाः पुरुषा राजन्सततं प्रियवादिनः ।
अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥ १६९ ॥

ऐसा जानकर हे भद्र ! आपको सन्तोष करना चाहिये। इस तरह मन्थरक का वचन सुन कर कौवा बोला–"भद्र ! मन्थरक जो ऐसा कहता है वह तुमको मन में सोचना चाहिये। अथवा यह सत्य कहा है–

हे राजन् ! निरन्तर प्रिय बोलने वाले बहुत है, परन्तु सुनने में अप्रिय परन्तु वास्तव में हितकारी वचन के कहने सुनने वाले दुर्लभ हैं ॥ १६६ ॥

अप्रियाण्यपि पथ्यानि ये वदन्ति नृणामिह।
त एव सुहृदः प्रोक्ता अन्ये स्युर्नामधारकाः, ॥ १७० ॥

इस संसार में जो मनुष्य अप्रिय तथा हितकारी वाक्यों को कहते हैं वे ही सच्चे मित्र हैं, दूसरे नामधारी मित्र हैं ॥ १७० ॥

अथैवं जल्पतां तेषां चित्राङ्गो नाम हरिणो लुब्धकत्रासितस्तस्मिन्नेव सरसि प्रविष्टः। अथायान्तं ससंभ्रममवलोक्य लघुपतनको वृक्षमारूढः। हिरण्यको निकटवर्तिनं शरस्तम्बं प्रविष्टः। मन्थरकः सलिलाशयमास्थितः। अथ लघुपतनको मृगं सम्यक्परिज्ञाय मन्थरकमुवाच–'एह्येहि सखे मन्थरक ! मृगोऽयं तृषार्तोऽत्र समायातः सरसि प्रविष्टः, तस्य शब्दोऽयं, न मानुषसंभवः' इति। तच्छ्रुत्वा मन्थरको देशकालोचितमाह–'भो लघुपतनक ! यथायं मृगो दृश्यते प्रभूतमुच्छ्वासमुद्वहन्नुद्भ्रान्तदृष्ट्या पृष्ठतोऽवलोकयति, तन्न तृषार्त एषः, नूनं लुब्धकत्रासितः। तज्ज्ञायतामस्य पृष्ठे लुब्धका आगच्छन्ति न वा इति। उक्तं च–

इस प्रकार उनके बचन कहने पर चित्राङ्गद नामक हरिण बहेलिया से घबड़ाया हुआ उसी सरोवर में घुस गया। तब उसको भय से आया हुआ देखकर लघुपतनक वृक्ष पर चढ़ गया, हिरण्यक समीप के ही मूंज के बन में घुस गया, मन्थरक सरोवर में चला गया। तब लघुपतनक मृग को अच्छी प्रकार जान कर मन्थरक से बोला आओ सखे मन्थरक यह मृग तृषा से व्याकुल यहाँ आकर सरोवर में प्रविष्ट हुआ है यह उसी का शब्द है, यहाँ मनुष्य का संभव नहीं है यह सुनकर मन्थरक देशकाल का विचार कर बोला–"भो लघुपतनक ! यह मृग

लम्बी साँस लेता हुआ और घबड़ाई हुई दृष्टि से जिस तरह पीछे को देखता है, इससे यह प्यासा नहीं है अवश्य ही व्याधे से डरा हुआ मालूम पड़ता है। सो जाना जाय कि इसके पीछे व्याधे आते हैं या नहीं। कहा है—

भयत्रस्तो नरः श्वासं प्रभूतं कुरुते मुहुः।
दिशोऽवलोकयत्येव न स्वास्थ्यं व्रजति क्वचित्' ॥ १७१ ॥

भय से व्याकुल हुआ मनुष्य बार बार लम्बी साँस लेता है, चारो ओर दिशाओं को देखता है और उसको कहीं शान्ति नहीं मिलती ॥ १७ ॥

तच्छ्रुत्वा चित्राङ्ग आह—'भो मन्थरक! ज्ञातं त्वया सम्यङ् मे त्रासकारणम्? अहं लुब्धकशरप्रहारादुद्धारितः कृच्छ्रेणात्र समायातः। मम यूथं तैर्लुब्धकैर्व्यापादितं भविष्यति। तच्छरणागतस्य मे दर्शय किंचिदगम्यं स्थानं लुब्धकानाम्।' तदाकर्ण्य मन्थरक आह—'भोश्चित्राङ्ग! श्रूयतां नीतिशास्त्रम्—

द्वावुपायाविह प्रोक्तौ विमुक्तौ शत्रुदर्शने।
हस्तयोश्चालनादेको द्वितीयः पादवेगजः ॥ १७२ ॥

यह सुनकर चित्रांग बोला—"हे मन्थरक! तैने मेरे भय का कारण भली प्रकार जान लिया। मैं बच कर बड़ी कठिनाई से यहाँ आया हूँ। मेरे साथियों को उन लुब्धकों ने मार डाला होगा सो शरण में आये हुये मुझे कोई स्थान बताओ जहाँ व्याधों की गति न हो। यह सुनकर मन्थरक बोला—"हे चित्राँग! नीति शास्त्र सुनो—

शत्रु से सामना हो जाने पर उससे छुटकारा पाने के दो ही उपाय हैं—एक हाथ चलाना अर्थात् उसको ठोंकना दूसरा वेग से चलना (भाग निकलना) ॥ १७२ ॥

तद्गम्यतां शीघ्रं सघनं वनम्, यावदत्रापि नागच्छन्ति ते दुरात्मानो लुब्धकाः।' अत्रान्तरे लघुपतनकः सत्वरमभ्युपेत्योवाच—'भो मन्थरक!

गतास्ते लुब्धकाः स्वगृहोन्मुखाः प्रचुरमांसपिण्डधारिणः । तच्चित्राङ्ग ! त्वं विश्रब्धो वनाद्बहिर्भव ।' ततस्ते चत्वारोऽपि मित्रभावमाश्रितास्तस्मिन्सरसि मध्याह्नसमये वृक्षच्छाया या अधस्तात्सुभाषितगोष्ठीसुखमनुभवन्तः सुखेन कालं नयन्ति । अथवा युक्तमेतदुच्यते—

सुभाषितरसास्वादबद्धरोमाञ्चकञ्चुकाः ।
विनापि सङ्गमं स्त्रीणां सुधियः सुखमासते ॥१७३॥

इसलिये शीघ्र सघन बन को चले जाओ, जब तक कि दुष्ट बहेलिये यहाँ नहीं पहुंचते । इसी अवसर में लघुपतनक शीघ्रता से आकर बोला—"भो मन्थरक ! वे व्याधे बहुत सा मांस पिण्ड लेकर अपने घर चल दिये इसलिए हे चित्रांग ! निर्भय होकर जंगल से बाहर हो जाओ तब वे चारो ही मित्र भाव को प्राप्त हुए उस सरोवर में दोपहर के समय वृक्ष की छाया के नीचे सुभाषित गोष्ठी का सुखानुभव करते हुए आनन्द से समय बिताने लगे । अथवा ठीक ही कहा है—

सुभाषित गोष्ठी के रसरूपी स्वाद से जिनके रोमाञ्चरूप बखतर (कवच) बंधे हुये हैं वे बुद्धिमान स्त्रियों के संग के बिना ही परमानन्द को प्राप्त होते हैं ॥१७३॥

सुभाषितमयद्रव्यसंग्रहं न करोति यः ।
स तु प्रस्तावयज्ञेषु कां प्रदास्यति दक्षिणाम् ॥ १७४ ॥

जो सुन्दर वचन रूप द्रव्य का संग्रह नहीं करता है, वह कथाप्रसंग रूप यज्ञ में किस दक्षिणा को देगा ॥ १७६ ॥

तथा च—सकृदुक्तं न गृह्णाति स्वयं वा न करोति यः ।
यस्य संपुटिका नास्ति कुतस्तस्य सुभाषितम् ॥ १७५ ॥

और भी—जो मनुष्य एक ही बार कही हुई बात को ग्रहण नहीं कर अच्छे बातें नहीं करता है और जिसकी वाग्धारा में रुकावट नहीं है अर्थात् अनर्गली प्रलाप की तरह बड़ बड़ करता ही रहता है, उसके पास सुभाषित कैसे रह सकता है ? ॥ १७५ ॥

अथैकस्मिन्नहनि गोष्ठीसमये चित्राङ्गो नायातः । अथ ते व्याकुलीभूताः परस्परं जल्पितुमारब्धाः—'अहो ! किमद्य सुहृन्न समायातः । किं सिंहादिभिः क्वापि व्यापादितः, उत लुब्धकैः, अथवा अनले प्रपतितो गर्तविषमे वा नवतृणलौल्यात्' इति । अथवा साध्विदमुच्यते—

स्वगृहोद्यानगतेऽपि स्निग्धैः पापं विशङ्क्यते मोहात् ।
किमु दृष्टवह्वपायप्रतिभयकान्तारमध्यस्थे ॥ १७६ ॥

तब एक दिन गोष्ठी के समय चित्रांग नहीं आया तो वे सब व्याकुल हो आपस में कहने लगे—"अहो आज हमारा मित्र क्यों नहीं आया । क्या कहीं सिंहादि ने मार डाला अथवा व्याधों ने फँसा लिया ? अथवा जंगली आग में तो नहीं गिरा वा हरे हरे घास के लोभ से किसी भयंकर गड्ढे में गिर गया । अथवा सत्य कहा है—

जब अपने घर के समीप के बगीचे में जाने पर भी प्रिय जन को लौटने में विलंब होता है तो उसके प्रेमी के मन में उसके सम्बन्ध में अनेक प्रकार की अमंगल भावनाएँ उत्पन्न हुआ करती हैं । तो अनेक प्रकार से भयंकर हिंसादि जन्तुओं से व्याप्त घने जंगल की बात ही क्या है ॥१७६॥

अथ मन्थरको वायसमाह—'भो ! लघुपतनक ! अहं हिरण्यकश्च तावद् द्वावप्यशक्तौ तस्यान्वेषणं कर्तुं मन्दगतित्वात् । तद्गत्वा त्वमरण्यं शोधय यदि कुत्रचित्तं जीवन्तं पश्यसि' तदाकर्ण्य लघुपतनको नातिदूरे यावद्गच्छति तावत्पल्वलतीरे चित्राङ्गः कूटपाशनियन्त्रितस्तिष्ठति । तं दृष्ट्वा शोकव्याकुलितमनास्तमवोचत्—'भद्र किमिदम् ।' चित्राङ्गोऽपि वायसमवलोक्य विशेषेण दुःखितमना बभूव । अथवा युक्तमेतत् ।

अपि मन्दत्वमापन्नो नष्टो वापीष्टदर्शनात् ।
प्रायेण प्राणिनां भूयो दुःखावेगोऽधिको भवेत् ॥ १७७ ॥

मन्थरक कौवा से बोला—"भो लघुपतनक ! मैं और हिरण्यक दोनों ही उसको ढूंढ़ने में असमर्थ हैं । कारण कि हम मन्द गति हैं इसलिए तू बन में जाकर उसको खोजो यदि कहीं वह जीता दिखाई दे ।" यह सुनकर लघुपतनक

थोड़ी ही दूर गया तो छोटे सरोवर के किनारे चित्रांग करट जाल से बंधा मिला। उसे देख शोक से व्याकुल मन होकर उससे बोला—"भद्र यह क्या है।" चित्रांग भी कौवे को देखकर बहुत दुखी हुआ। अथवा यह युक्त ही है—

कुछ कम हुआ वा सर्वथा विस्मृत हुआ दुःख अपने सुहृदों के दिखाई देने पर फिर से अधिक हो जाता है ॥ १७७ ॥

ततश्च बाष्पावसाने चित्राङ्गो लघुपतनक आह—'भो मित्र! सञ्जातोऽयं तावन्मम मृत्युः। तद्युक्तं संपन्नं यद्भवता सह मे दर्शनं सञ्जातम् उक्तं च—प्राणात्यये समुत्पन्ने यदि स्यान्मित्रदर्शनम्।

तद्द्वाभ्यां सुखदं पश्चाज्जीवतोऽपि मृतस्य च ॥ १७८ ॥

उनके वचन के अन्त में चित्रांग लघुपतनक से बोला—"भो मित्र! यह मेरीमृत्यु उपस्थित हुई है सो अच्छा ही हुआ जो आपका दर्शन मुझे हुआ। कहा है—

मरण काल उपस्थित होने पर यदि मित्र का दर्शन हो जाय तो मित्र दर्शन के पश्चात् दोनों ही अवस्था में—जीवित रहे या मर जाय आनन्द ही है ॥ १७८ ॥

तत्क्षन्तव्यं यन्मया प्रणयात्सुभाषितगोष्ठीष्वभिहितम्। तथा हिरण्यकमन्थरकौ मम वाक्याद्वाच्यौ—

अज्ञानाज्ज्ञानतो वापि दुरुक्तं यदुदाहृतम्।

तत्क्षन्तव्यं युवाभ्यां मे कृत्वा प्रीतिपरं मनः ॥ १७९ ॥

इसलिये कथाप्रसंग में प्रेम से मैंने जो कुछ अनुचित कहा हो उसे क्षमा करना और हिरण्यक मन्थरक को मेरी ओर से कहना—

जानकर अथवा अनजान से मैंने कथा प्रसंग में यदि कुछ अनुचित कहा है तो आप दोनों सहृदयता से उसे क्षमा करना ॥१७९॥

तच्छ्रुत्वा लघुपतनक आह—'भद्र! न भेतव्यमस्मद्विधैर्विद्यमानैः। यावदहं द्रुततरं हिरण्यकं गृहीत्वागच्छामि। अपरं ये सत्पुरुषा भवन्ति ते व्यसने न व्याकुलत्वमुपयान्ति। उक्तञ्च—

उक्तं च—सम्पदि यस्य न हर्षो विपदि विषादो रणे च भीरुत्वम् ।
तं भुवनत्रयतिलकं जनयति जननी सुतं विरलम्' ॥ १८० ॥

यह सुनकर लघुपतनक बोला—"भद्र ! हम लोगों के सदृश मित्रों के रहने पर आप डरें नहीं, जब तक मैं शीघ्रता से हिरण्यक को लेकर आता हूँ और जो सत्पुरुष होते हैं वे विपत्ति में घबड़ाते नहीं। कहा है—

सम्पत्ति में जिसको हर्ष नहीं होता, विपत्ति में विषाद नहीं होता, युद्ध में भय नहीं होता, तीनों लोकों में तिलक समान ऐसे विरल पुत्र को माता उत्पन्न करती है ॥१८०॥

एवमुक्त्वा लघुपतनकश्चित्राङ्गमाश्वास्य यत्र हिरण्यकमन्थरकौ तिष्ठतस्तत्र गत्वा सर्वं चित्राङ्गपाशपतनं कथितवान् हिरण्यकञ्च चित्राङ्गपाशमोक्षणं प्रति कृतनिश्चयं पृष्ठमारोप्य भूयोऽपि सत्वरं चित्राङ्गसमीपे गतः । सोऽपि मूषकमवलोक्य किंचिज्जीविताशया संश्लिष्ट आह—

आपन्नाशाय विबुधैः कर्तव्याः सुहृदोऽमलाः ।
न तरत्यापदं कश्चिद्योऽत्र मित्रविवर्जितः ॥ १८१ ॥

यह कह लघुपतनक चित्रांग को समझाकर जहाँ हिरण्यक मन्थरक थे वहाँ जाकर चित्रांग के जाल में फसने की सारी बातें कही । चित्रांग के जाल काटने का निश्चय किये हुए हिरण्यक के पीठ पर चढ़ाकर फिर चित्रांग के समीप गया वह भी मूसे को देख कुछ जीने की आशा से युक्त हो बोला—

विद्वानों ने आपत्ति को नाश करने के लिये शुद्ध हृदय वाले मित्र करने चाहिये जो मित्रों से रहित है वह कभी आपत्ति को पार नहीं कर सकता है ॥ १८१ ॥

हिरण्यक आह—'भद्र ! त्वं तावन्नीतिशास्त्रज्ञो दक्षमतिः । तत्कथमत्र कूटपाशे पतितः ।' स आह—'भोः ! न कालोऽयं विवादस्य । तन्न यावत्स पापात्मा लुब्धकः समभ्येति तावद् द्रुततरं कर्तयेमं मत्पाशम् ।' तदाकर्ण्य विहस्याह हिरण्यकः—किं मय्यपि समायाते लुब्धकाद्बिभेषि ? ततः शास्त्रं प्रति महती मे विरक्तिः सम्पन्ना, यद्भवद्विधा अपि नीतिशास्त्रविद एनामवस्थां प्राप्नुवन्ति । तेन त्वां पृच्छामि ।' स आह—'भद्र ! कर्मणा बुद्धिरपि हन्यते । उक्तं च—

कृतान्तपाशबद्धानां दैवोपहतचेतसाम् ।
बुद्धयः कुब्जगामिन्यो भवन्ति महतामपि ॥ १८२ ॥

हिरण्यक बोला—"भद्र ! तुम तो नीति शास्त्र के ज्ञाता और चतुर बुद्धिवाले हो । सो किस प्रकार कपट जाल में फस गये" वह बोला—यह समय विवाद का नहीं है, सो जब तक वह पापी बहेलिया नहीं आता तब तक शीघ्रता से मेरे पैरों के बन्धन काटो ।" यह सुनकर हिरण्यक हंसकर बोला—"क्या मेरे आने पर भी बहेलिये से डरता है । इसी कारण से मुझे बड़ा भारी विराग प्राप्त हुआ है । जो आप सरीखे नीति शास्त्र के ज्ञाता, इस अवस्था को प्राप्त होते हैं इस कारण तुझसे पूछता हूँ । वह बोला—"भद्र ! कर्म के फेर से बुद्धि भी नष्ट हो जाती है कहा है—कालपाश में बंधे हुए दुर्दैव से हत भाग्य वाले महात्माओं की बुद्धि भी विपरीत हुआ करती है ॥ १८२ ॥

विधात्रा रचिता या सा ललाटेऽक्षरमालिका ।
न तां मार्जयितुं शक्ताः स्वबुद्ध्याप्यतिपण्डिताः' ॥ १८३ ॥

विधाता ने जो अक्षर माला मस्तक में लिख दी है । बड़े से बड़े भी पण्डित उसको अपनी बुद्धि से मिटा नहीं सकते ॥ १८३ ॥

एवं तयोः प्रवदतोः सुहृद्व्यसनसंतप्तहृदयो मन्थरकः शनैः शनैस्तं प्रदेशमाजगाम । तं दृष्ट्वा लघुपतनको हिरण्यकमाह—'अहो ! न शोभनमापतितम् ।' हिरण्यक आह—किं स लुब्धकः समायाति ।' स आह—'आस्तां तावल्लुब्धकवार्त्ता । एष मन्थरकः समागच्छति । तदनीतिरनुष्ठितानेन, यतो वयमस्य कारणान्नूनं व्यापादनं यास्यामो यदि स पापात्मा लुब्धकः समागमिष्यति । तदहं तावत्खमुत्पतिष्यामि । त्वं पुनर्बिलं प्रविश्यात्मानं रक्षयिष्यसि । चित्राङ्गोऽपि वेगेन दिगन्तरं यास्यति । एष पुनर्जलचरः स्थले कथं भविष्यतीति व्याकुलोऽस्मि ।' अत्रान्तरे प्राप्तोऽयं मन्थरकः । हिरण्यक आह—'भद्र ! न युक्तमनुष्ठितं भवता, यदत्र समायातः । तद्भूयोऽपि द्रुततरं गम्यताम्, यावदसौ लुब्धको न समायाति ।'

मन्थरक आह—'भद्र ! किं करोमि, न शक्नोमि तत्रस्थो मित्रव्यसनाग्नि-दाहं सोढुम् । तेनाहमत्रागतः । अथवा साध्विदमुच्यते—

दयितजनविप्रयोगा वित्तवियोगाश्च केन सह्याः स्युः ।
यदि सुमहौषधिकल्पो वयस्यजनसंगमो न स्यात् ।। १८४ ।।

इस प्रकार उन दोनों की बातें हो ही रही थीं कि मित्र के दुःख से सन्तप्त-हृदय मन्थरक भी शनैः शनैः उस स्थान में आ गया । उसे देख लघुपतनक हिरण्यक से बोला—"अहो ! यह अच्छा न हुआ ?" हिरण्यक बोला—क्या वह बहेलिया आ रहा है ? वह बोला बहेलिया की बात तो दूर रहे, यह मन्थरक आ रहा है, सो अनुचित किया इसने, हम भी इसके कारण से अवश्य नाश को प्राप्त होंगे यदि वह पापात्मा लुब्धक आ गया तो । सो मैं तो आकाश में उड़ जाऊंगा तू बिल में प्रवेश कर जायेगा चित्रांग भी देशान्तर में भाग जायेगा, इस जलचर की स्थल में क्या दशा होगी इस कारण मैं व्याकुल हो रहा हूं । इसी समय मन्थरक प्राप्त हुआ । हिरण्यक बोला—"भद्र ! आपने अच्छा किया जो यहाँ आ गये सो बहुत जल्दी वापस चले जाओ जब तक वह लुब्धक न आवे ।" मन्थरक बोला"भद्र ! मैं क्या करूं वहाँ रहकर मैं मित्र के दुःख रूपी अग्निदाह को सहन नहीं कर सकता हूँ । इस कारण मैं यहाँ आ गया । अथवा ठीक कहा है—

प्रिय जनों का वियोग और धन का वियोग कौन सह सकता है, यदि महौषधि के समान मित्र जन का संगम न हो ।। १८४ ।।

वरं प्राणपरित्यागो न वियोगो भवादृशैः ।
प्राणा जन्मान्तरे भूयो भवन्ति न भवद्विधाः ।। १८५ ।।

प्राण का छोड़ देना अच्छा है लेकिन आप सरीखों का वियोग अच्छा नहीं है । प्राण तो जन्मान्तर में भी पुनः प्राप्त हो सकते हैं । परन्तु आप सरीखे मित्र फिर नहीं मिल सकते ।। १८५ ।।

एवं तस्य प्रवदत आकर्णपूरितशरासनो लुब्धकोऽप्युपागतः तं दृष्ट्वा मूषकेण तस्य स्नायुपाशस्तत्क्षणात्खण्डितः। अत्रान्तरे चित्राङ्गः सत्वरं पृष्ठमवलोकयन्प्रधावितः। लघुपतनको वृक्षमारूढः। हिरण्यकश्च समीपवर्ति बिलं प्रविष्टः। अथासौ लुब्धको मृगगमनाद्विषण्णवदनो व्यर्थश्रमस्तं मन्थरकं मन्दं मन्दं स्थलमध्ये गच्छन्तं दृष्टवान्, अचिन्तयच्च—'यद्यपि कुरङ्गो धात्रापहृतस्तथाप्ययं कूर्म आहारार्थं संपादितः। तदद्यास्यामिषेण मे कुटुम्बस्याहारनिर्वृतिर्भविष्यति।' एवं विचिन्त्य तं दर्भैः संच्छाद्य धनुषि समारोप्य स्कन्धे कृत्वा गृहं प्रति प्रस्थितः। अत्रान्तरे तं नीयमानमवलोक्य हिरण्यको दुःखाकुलः पर्यदेवयत्—'भोः! कष्टमापतितम्।

> एकस्य दुःखस्य न यावदन्तं
> गच्छाम्यहं पारमिवार्णवस्य।
> तावद् द्वितीयं समुपस्थितं मे
> छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति॥ ॥ १८६ ॥

इस प्रकार वह कह ही रहा था कि कर्ण पर्यन्त धनुष चढ़ाये बहेलिया भी वहाँ आया उसको देखकर चूहे ने उसके ताँत के बन्धन उसी समय काट दिये। उसी समय चित्रांग पीछे देखता हुआ निकल भागा। लघुपतनक पेड़ पर चढ़ गया। हिरण्यक समीपवर्ती बिल में घुस गया। तब यह लुब्धक मृग के भाग जाने से दुःखी होकर परिश्रम व्यर्थ होता समझ उस मन्थरक को धीरे २ स्थल में जाता देखकर विचारने लगा—"यद्यपि विधाता ने हरिण को हरण कर लिया है तथापि यह कूर्म भोजन के निमित्त प्राप्त हुआ है सो आज इसी के मांस से हमारे परिवार का भोजन होगा, ऐसा विचार उसको कुशों से बाँधकर धनुष पर चढ़ा कन्धे पर रख घर की ओर चला। इसी समय उसको ले जाता हुआ देख हिरण्यक दुःख से व्याकुल हो विलाप करने लगा। "भो! बड़ा कष्ट आ पड़ा—

सागर के पार के समान जब तक इस दुख से पार नहीं होता हूं तब तक दूसरा दुख उपस्थित हो जाता है विपत्ति में अनर्थ की प्राप्ति बहुत तरह से हुआ करती है॥ १८६॥

तावदस्खलितं यावत्सुखं याति समे पथि ।
स्खलिते च समुत्पन्ने विषमं च पदे पदे ॥ १८७ ॥

सम मार्ग में तभी तक सुख पूर्वक गमन करता है जब तक गिरता नहीं और एक बार गिरा कि एक पग चलना कठिन हो जाता है ॥ १८७ ॥

यन्नम्रं सरलं चापि तच्चापत्सु न सीदति ।
धनुर्मित्रं कलत्रं च दुर्लभं शुद्धवंशजम् ॥ १८८ ॥

जो नम्र और सरल हैं, वह आपत्ति में भी विकार को प्राप्त नहीं होता, इसीलिए शुद्ध वंश में उत्पन्न धनुष, मित्र और स्त्री दुर्लभ हुआ करते हैं ॥१८८॥

न मातरि न दारेषु न सोदर्ये न चात्मजे ।
विश्रम्भस्तादृशः पुंसां यादृङ्मित्रे निरन्तरे ॥ १८९ ॥

माता, स्त्री, सगे भाई और पुत्र में भी पुरुष का वैसा विश्वास नहीं होता जैसा अपने मित्र में हुआ करता है ॥ १८९ ॥

यदि तावत्कृतान्तेन मे धननाशो विहितस्तन्मार्गश्रान्तस्य मे विश्रामभूतं मित्रं कस्मादपहृतम् । अपरमपि मित्रं परं मन्थरकसमं न स्यात् । उक्तं च—

असंपत्तौ परो लाभो गुह्यस्य कथनं तथा ।
आपद्विमोक्षणं चैव मित्रस्यैतत्फलत्रयम् ॥ १९० ॥

यदि विधाता ने मेरा धन नाश किया, तो मेरे जैसे थके हुए पथिक के विश्राम स्थान मित्र का क्यों अपहरण किया ? मन्थरक के समान और दूसरा मित्र भी मेरा कोई नहीं हो सकता ।

कहा भी है—मित्र के ये तीन लक्षण हैं—मित्र द्वारा सम्पत्ति प्राप्त न होने पर भी अपना परम लाभ प्रगट करना, गुप्त बातों का कहना और आपत्ति से छुड़ाना ॥ १९० ॥

तदस्य पश्चान्नान्यः सुहृन्मे । तत्किं ममोपर्यनवरतं व्यसनशरैर्वर्षति हन्त विधिः । यत आदौ तावद्वित्तनाशः, ततः परिवारभ्रंशः, ततो देशत्यागः, ततो मित्रवियोग इति । अथवा स्वरूपमेतत्सर्वेषामेव जन्तूनां जीवितधर्मस्य च । उक्तं च—

कायः संनिहितापायः संपदः क्षणभङ्गुराः ।
समागमाः सापगमाः सर्वेषामेव देहिनाम् ॥ १९१ ॥

इसलिये अब इसके बाद मेरा कोई मित्र नहीं । फिर भी क्यों मेरे ऊपर विधाता निरन्तर विपत्ति रूप बाणों को बरसाया करता है, जैसे—सर्व प्रथम धन का नाश हुआ, अनन्तर पारिवारिक वियोग, उसके बाद देश त्याग अनन्तर मित्र वियोग । अथवा सभी प्राणियों का यही स्वरूप है । कहा है—

प्राणीमात्र का शरीर निकट विनाशी है, सम्पत्ति क्षण भंगुर है, समागम (संयोग) अपगम (वियोग) पूर्ण है ॥ १६१ ॥

तथा च—क्षते प्रहारा निपतन्त्यभीक्ष्णं
धनक्षये दीप्यति जाठराग्निः ।
आपत्सु वैराणि समुल्लसन्ति
छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति ॥ १९२ ॥

जहाँ क्षत (घाव) रहा करते हैं, वहाँ बराबर चोट लगा करती है धननाश होने पर भूख भी अधिक लगा करती है । आपत्ति के समय शत्रु भी बढ़ जाते हैं । तात्पर्य यह कि—विपद्ग्रस्त हो जाने पर अनेकों प्रकार से अनर्थ उत्पन्न हुआ करते हैं ॥ १६२ ॥

अहो साधूक्तं केनापि—

प्राप्ते भये परित्राणं प्रीतिविश्रम्भभाजनम् ।
केन रत्नमिदं सृष्टं मित्रमित्यक्षरद्वयम् ॥ २९३ ॥

किसी ने ठीक ही कहा है—

भय प्राप्त होने पर रक्षा करने वाला, प्रीति और विश्वास का एक मात्र पात्र "मित्र" रूप दो अक्षर को किसने उत्पन्न किया ॥ १६३ ॥

अत्रान्तरे चाक्रन्दपरौ चित्राङ्गलघुपतनकौ तत्रैव समायातौ । अथ हिरण्यक आह—'अहो ! किं वृथा प्रलपितेन । तद्यावदेष मन्थरको दृष्टि-गोचरान्न नीयते, तावदस्य मोक्षोपायश्चिन्त्यताम्' इति । उक्तं च—

'व्यसनं प्राप्य यो मोहात्केवलं परिदेवयेत् ।
क्रन्दनं वर्धयत्येव तस्यान्तं नाधिगच्छति ॥ १९४ ॥

इसी समय रोते हुए चित्राङ्ग और लघुपतनक वहीं आये । तब हिरण्यक बोला—अहो इस तरह व्यर्थ के रोने से क्या लाभ ? इसलिए जब तक यह मन्थरक आँखों की ओट नहीं होता है तब तक इसको छुड़ाने का उपाय सोचना चाहिये । कहा भी है—

विपत्ति के आजाने पर जो मनुष्य मूर्खता वश केवल रोता रहता है, उसका वह रोना बढ़ता ही जाता है, उसका अन्त नहीं होता ॥ १९४ ॥

केवलं व्यसनस्योक्तं भेषजं नयपण्डितैः ।
तस्योच्छेदसमारम्भो विषादपरिवर्जनम् ॥ १९५ ॥

नीतिकारों ने विपत्ति से छुटकारा पाने की यही एक दवा बताई है कि खेद को छोड़कर उसके नाश के उपाय की चिन्ता करे ॥ १९५ ॥

अन्यच्च—अतीतलाभस्य सुरक्षणार्थं
भविष्यलाभस्य च सङ्गमार्थम् ।
आपत्प्रपन्नस्य च मोक्षणार्थं
यन्मन्त्र्यतेऽसौ परमो हि मन्त्रः ॥ १९६ ॥

जो लाभ हो चुका है उसकी रक्षा के लिये, होनेवाले लाभ की प्राप्ति के लिये आपत्ति में पड़े हुए के उद्धार के लिये जो विचार किया जाता है वही सर्व श्रेष्ठ "मन्त्र" है ॥१९६॥

तच्छ्रुत्वा वायस आह—'भोः ! यद्येवं तत्क्रियतां मद्वचः । एष चित्राङ्गोऽस्य मार्गं गत्वा किंचित्पल्वलमासाद्य तस्य तीरे निश्चेतनो भूत्वा पततु । अहमप्यस्य शिरसि समारुह्य मन्दैश्चञ्चुप्रहारैः शिर उल्लेखयिष्यामि, येनासौ दुष्टलुब्धकोऽमुं मृतं मत्वा मम चञ्चुप्रहरणप्रत्ययेन मन्थरकं भूमौ क्षिप्त्वा मृगार्थं परिधाविष्यति । अत्रान्तरे त्वया दर्भमयानि पाशानि खण्डनीयानि, येनासौ मन्थरको द्रुततरं पल्वलं प्रविशति ।' चित्राङ्ग आह—'भोः ! भद्रोऽयं त्वया दृष्टो मन्त्रः । नूनं मन्थरकोऽयं मुक्तो मन्तव्यः' इति । उक्तं च—

यह सुनकर कौवा बोला— यदि ऐसी बातहै तो मेरा कहा करें। यह चित्रांग इसके रास्ते में जाकर किसी जलाशय के तट पर अपने को मरे हुए की तरह दिखाकर पड़ा रहे। मैं भी इसके मस्तक पर धीरे२ चोंच के प्रहार से इसका मस्तक खोदता रहूंगा। जिससे यह पापी बहेलिया मेरे चञ्चु प्रहार के विश्वास से इसको मरा समझकर मन्थरक को भूमि पर फेंक कर मृग के लिये दौड़ेगा, बस, उसी समय तुम उस कुशनिर्मित जाल को काट डालना, जिससे यह मन्थरक जल्दी जलाशय में घुस जायगा।

चित्रांग ने कहा— मित्र तुमने यह बहुत ही अच्छा सोंचा। अब निश्चय ही मन्थरक को मुक्त हुआ समझें। कहा है:—

सिद्धं वा यदि वाऽसिद्धं चित्तोत्साहो निवेदयेत्।
प्रथमं सर्वजन्तूनां तत्प्राज्ञो वेत्ति नेतरः ॥ १९७ ॥

कार्य सिद्ध होगा अथवा नही इस बात को मनुष्य के मनका उत्साह पहले से ही बता देता है, फिरभी इसको चतुरही लोग जाना करते हैं, दूसरे नही ॥ १९७ ॥

तदेवं क्रियताम्' इति। तथानुष्ठिते स लुब्धकस्तथैव मार्गासन्नपल्वलतीरस्थं चित्राङ्गं वायससनाथमपश्यत्। तं दृष्ट्वा हर्षितमना व्यचिन्तयत्—नूनं पाशबन्धनवेदनया वराकोऽयं मृगः सावशेषजीवितः पाशं त्रोटयित्वा कथमप्येतद्वनान्तरं यावत्प्रविष्टस्तावन्मृतः। तद्वश्योऽयं मे कच्छपः सुयन्त्रितत्वात्। तदेनमपि तावद् गृह्णामि। इत्यवधार्य कच्छपं भूतले प्रक्षिप्य मृगमुपाद्रवत्। एतस्मिन्नन्तरे हिरण्यकेन वज्रोपमदंष्ट्राप्रहरणेन तद्दर्भवेष्टनं खण्डशः कृतम्। मन्थरकोऽपि तृणमध्यान्निष्क्रम्य समीपवर्तिनं पल्वलं प्रविष्टः। चित्राङ्गोऽप्यप्राप्तस्यापि तस्य तल उत्थाय वायसेन सह पलायितः। एतस्मिन्नन्तरे विलक्षो विषादपरो लुब्धको निवृत्तो यावत्पश्यति, तावत्कच्छपोऽपि गतः। ततश्च तत्रोपविश्येमं श्लोकमपठत्—

इसलिये ऐसा ही करें'। ऐसा कर लेने पर उस बहेलिया ने अपने रास्ते के जलाशय के निकट स्थित कौवा बैठे हुए चित्राङ्ग को देखा। उसको देखकर अत्यन्त प्रसन्न होकर सोचने लगा।

मालूम पड़ता है कि यह बिचारा मृग जाल बन्धन की पीड़ा से किसी तरह अपने प्राणों को बचाकर और जाल को काट कर इस दूसरे जंगल में जैसे ही आया वैसे ही मर गया। यह कछुवा जो अच्छी तरह से बंधा रहने से मेरे वश में है ही, अब इस मृग को भी ले लूं।

ऐसा निश्चय कर कछुए को जमीन पर रखकर मृग की ओर लपका। इसी मौके को पाकर हिरण्यक ने वज्र के समान अपनी दाढ रूप अस्त्र से कुशनिर्मित उस पाश को टुकड़े २ कर डाला, मन्थरक भी उसमें से निकलकर समीपस्थ जलाशय में घुस गया। चित्राङ्ग भी उसके आने के पहले ही उठकर कौए के साथ ही भाग निकला।

इसीसमय लज्जित हुआ दुःखी बहेलिया लौटकर देखता है तो कछुआ (मन्थरक) भी नहीं दिखाई देता है। तब वहीं बैठकर इसश्लोक को पढ़ता है:—

प्राप्तो बन्धनमप्ययं गुरुमृगस्तावत्त्वया मे हृतः
संप्राप्तः कमठः स चापि नियतं नष्टस्तवादेशतः।
क्षुत्क्षामोऽत्र वने भ्रमामि शिशुकैस्त्यक्तः समं भार्यया
यच्चान्यन्न कृतं कृतान्त कुरु ते तच्चापि सह्यं मया'॥ १९८॥

एवं बहुविधं विलप्य स्वगृहं गतः। अथ तस्मिन्व्याधे दूरतरं गते सर्वेऽपि ते काककूर्ममृगमूषिकाः परमानन्दभाजः परस्परमालिङ्ग्य पुनर्जातमिवात्मानं मन्यमानास्तदेव सरः संप्राप्य महासुखेन सुभाषितकथागोष्ठीविनोदेन कालं नयन्ति स्म। एवं ज्ञात्वा विवेकिना मित्रसंग्रहः कार्यः। न च मित्रेण सह व्याजेन वर्तितव्यमिति। उक्तं च यतः—

यो मित्राणि करोत्यत्र न कौटिल्येन वर्तते ।
तैः समं न पराभूतिं संप्राप्नोति कथञ्चन ॥ १९९ ॥

इति श्रीविष्णुशर्मविरचिते पञ्चतन्त्रके मित्रसम्प्राप्तिर्नाम
द्वितीयं तन्त्रं. समाप्तम् ।

हे दुर्दैव !

बन्धन में प्राप्त यह बड़ा मृग तूने हरण कर लिया । तेरी ही आज्ञा से मुझे प्राप्त भी कछुआ नष्ट होगया । पुत्रों से और स्त्री से रहित होकर भूख से पीड़ित मैं इस बन में भटक रहा हूं । हे कृतान्त ! तूँ और जो कुछ नहीं कर सका है, वह भी कर ले, मैं उसे भी सहन करने के लिए तैयार हूँ ॥ १०२ ॥

इस प्रकार बहुत तरह से विलाप कर अपने घर लौट गया । इसके बाद उस बहेलिये के अति दूर चले जाने पर वे सब कौआ, कछुआ, मृग और मूषक परमानन्द को प्राप्त होकर परस्पर एक दूसरे को आलिंगन कर अपना अपना पुनर्जन्म मानते हुए उसी सरोवर को प्राप्तकर बड़े ही आनन्द से सुभाषित कथा प्रसंग से मनोविनोद करते हुए समय बिताने लगे । ऐसा समझकर विचारवान् पुरुष ने मित्र संग्रह करना चाहिये । मित्र के साथ कभी कपट से व्यवहार नहीं करना चाहिये । क्यों कि, कहा है—

इस संसार में जो मित्रता करता है, छल से व्यवहार नहीं करता, वह उन मित्रों के साथ रहकर कभी किसी से पराभव को प्राप्त नहीं होता ॥ १०३ ॥

इति श्री विष्णुशर्मा विरचित पञ्चतन्त्र का मित्र-सम्प्राप्तिनामका
द्वितीयतन्त्र समाप्त ।

हमारी प्रकाशित पुस्तकें

१ रघुवंश प्रथम सर्ग सुबोधिनी टीका सहित ।।।)
२ रघुवंश पञ्चमसर्ग „ „ ।।)
३ रघुवंश १–२ सर्ग काशी परीक्षोपयोगी १।।)
४ रघुवंश २–३ सर्ग मल्लिनाथी, हिन्दी बिहार परीक्षोपयोगी ।।।)
५ रघुवंश २–४ सर्ग „ „ काशी परीक्षोपयोगी १।।)
६ रघुवंश ६–१० सर्ग सुबोधिनी २।।)
७ रघुवंश ६–१० सर्ग केवल मल्लिनाथी टीका १)
८ रघुवंश १–३ सर्ग केवल मल्लिनाथी टीका ।।)
९ रघुवंश सम्पूर्ण मल्लिनाथी और हिन्दी टीका (यन्त्रस्थ)
१० श्रुतबोध (प्राचीन संस्करण) सुबोधिनी टीकासहित सोदाहरण ।।)
११ श्रुतबोध (बालोपयोगी संस्करण) „ „ ।।)
१२ किरातार्जुनीय (१–२ सर्ग) सुबोधिनी टीका सहित १)
१३ किरातार्जुनीय (सम्पूर्ण) मल्लिनाथी सहित २।।)
१४ शिशुपाल वध १–२ सर्ग सुबोधिनी टीका १।।)
१५ नैषध महाकाव्य (१–९ सर्ग) मल्लिनाथी टीका ४)
१६ नैषध (१–३) सर्ग मल्लिनाथी टीका, अलंकार विवेचन हिन्दी तथा एक एक पद्य में संक्षिप्त कथा भाग आदि सहित १।।)
१७ अभिज्ञानशाकुन्तल संस्कृत टीका तथा हिन्दी टीका सहित ३।।)
१८ वेणीसंहार–सरल संस्कृत टीका तथा हिन्दी में सरलार्थ २।।)
१९ नाट्यशास्त्र प्रथमाध्याय (भरत मुनिकृत) हिन्दी टीका सहित ।।)
२० अलंकार सर्वस्व (राजानक रुय्यककृत) २)
२१ मीमांसा परिभाषा संस्कृत हिन्दी टीका सहित ।।।)
२२ नीतिसंग्रह (संक्षिप्त हितोपदेश) ।।)
२३ छन्द:संग्रह काशी की प्रथम परीक्षा में पाठ्य ≡)
२४ रामवनगमन सुबोधिनी टीका सहित „ „ १।।)

२५ विदुलोपाख्यान सुबोधिनी टीका सहित		॥=
२६ हितोपदेश (मित्रलाभ) संस्कृत हिन्दी टीका सहित		१)
२७ पाणिनीय प्रबोध		१)
२८ महाकवि भारवि		॥)
२९ महाकवि माघ		॥)
३० मित्रसम्प्राप्ति (पञ्चतन्त्र) हिन्दी टीका सहित		।॥)
३१ पञ्चतन्त्र प्रथम तन्त्र		१)
३२ पञ्चतन्त्र द्वितीयतन्त्र		।)
३३ पञ्चतन्त्र तृतीय तन्त्र		।=
३४ पञ्चतन्त्र चतुर्थ तन्त्र		।)
३५ पञ्चतन्त्र पञ्चमतन्त्र		।)
३६ विदुरनीति १–२ अध्याय टीका सहित		॥=
३७ विदुरनीति ३–८ अध्याय हिन्दी टीका सहित		॥)
३८ योगकर्णिका (योग शास्त्र का अनूठा ग्रंथ		१॥)
३९ हिन्दी दीपिका		१)
४० शिवसहस्रनामावली		।=
४१ शिवमहिम्नस्तोत्र		–
४२ आपदुद्धारक बटुकभैरव स्तोत्र		=
४३ तुलसी	(हिन्दी)	=
४४ उपयोगी निबंधावली	,,	१॥)
४५ ग्रामीणों का स्वास्थ्य	,,	१)
४६ पौराणिक वनस्पतियाँ	,,	२)
४७ नव कल्पनाएँ	,,	१)
४८ आदर्श दिनचर्या	,,	१।॥)
४९ काव्यदीप	,,	॥)

———